तात्पर्यवृत्ति

मणि शंकर द्विवेदी

S.2

तात्पर्यवृत्ति

तात्पर्यवृत्ति

मणि शंकर द्विवेदी

विद्यानिधि प्रकाशन
दिल्ली

प्रकाशक :
विद्यानिधि प्रकाशन
डी–10/1061 (समीप श्रीमहागौरी मन्दिर)
खजूरी खास, दिल्ली–110094

© लेखक

ISBN : 978-93-80651-88-0

प्रथम संस्करण : 2014

मूल्य : 350.00

लेजर टाईप सैटिङ्ग :
एस० के० ग्राफीक्स
दिल्ली–84

मुद्रक
विशाल कौशिक प्रिंटर्स, दिल्ली–९३

समर्पण

पूज्य माताजी-पिताजी

एवं

समादरणीय दादाजी (पं० श्री रङ्गनाथ उपाध्याय)

को

सादर, सविनय समर्पित।

—मणि शंकर द्विवेदी

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु।।
(ऋग्वेद ८/१००/११)

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र
SPECIAL CENTRE FOR SANSKRIT STUDIES
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
नई दिल्ली–110067
New Delhi-110067, India

डॉ० हरिराम मिश्र
Dr. Hari Ram Mishra
सहायक आचार्य
Assistant Professor

Tel. : 011-26738833,26704128
Fax : 26742596
Mobile : 9971187284

पुरोवाक्

सम्पूर्ण वाङ्मय में भाषा का अद्वितीय महत्त्व स्वीकार किया गया है। भारतीय चिन्तन परम्परा प्रारम्भ से ही वाक्-केन्द्रित रही है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि वेदों की व्याख्या के लिए प्राप्त छह वेदाङ्गों में से शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त एवं छन्दस् इन चार वेदाङ्गों का मात्र भाषा के विश्लेषण के लिए समाम्नाय किया गया है। भाषिक चिन्तन का प्रारम्भिक स्रोत विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में दृष्टिगोचर होता है, जिसके अनेक मन्त्रों में भाषाविषयक विवेचन उपलब्ध होता है। ऋग्वेद का एक सम्पूर्ण सूक्त ही भाषा सम्बन्धी चिन्तन-मनन को समर्पित है, जिसे वाक्-सूक्त के नाम से जाना जाता है। इस सूक्त का यह उद्घोष है कि वाग्देवी ही समस्त सृष्टि की अधिष्ठात्री हैं, जो अपनी इच्छा से मनुष्यों को ऋषि, देवता या विद्वान् बनाती हैं। यह सम्पूर्ण सूक्त यही बतलाता है कि समस्त विश्व नाद से ही उत्पन्न हुआ है। वेदों में निहित भाषिक चिन्तन-परम्परा का विकास ब्राह्मणों, उपनिषदों, प्रातिशाख्यों, विभिन्न शिक्षा-ग्रन्थों एवं निरुक्त आदि में दृष्टिगोचर होता है। अर्थनिर्धारण की दृष्टि से निरुक्ति विज्ञान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। व्याकरण का मुख्य कार्य यद्यपि शब्दसाधुत्व है किन्तु इसी प्रक्रिया में अर्थ की भी सुस्पष्ट व्याख्या हो जाती है, जिसका विकास व्याकरण दर्शन के रूप में अपनी पूर्णता को प्राप्त होता है, जिसे उत्तवर्त्ती दार्शनिकों एवं काव्यशास्त्रियों ने अपेक्षित विस्तार प्रदान किया है।

भाषा के सम्यक् अवबोध हेतु उसके प्रत्येक तत्त्वों—शब्द, अर्थ,

शब्दार्थ-सम्बन्ध, वाक्य, वाक्यार्थ, शाब्दबोध, शब्दवृत्ति आदि के स्वरूप पर वैयाकरणों, दार्शनिकों एवं काव्यशास्त्रियों द्वारा गहन विचार-विमर्श किया गया है। शब्दार्थ विवेचन के क्रम में शाब्दिकों द्वारा वृत्तियों की चर्चा की गयी है, जिसे शब्दवृत्ति या शब्दशक्ति के नाम से अभिहित किया गया है। काव्यशास्त्रियों ने शब्द के तीन प्रकारों—वाचक, लक्षक एवं व्यञ्जक से क्रमशः तीन अर्थों-वाच्य, लक्ष्य एवं व्यङ्ग्य अर्थ का प्रतिपादन किया है। शब्दार्थ-विवेचन के क्रम में आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ काव्यप्रकाश में "तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्" कहकर तात्पर्यार्थ नामक तुरीय अर्थ को भी कुछ लोगों द्वारा मान्य बतलाया है। उपर्युक्त तीन प्रकार के शब्दों से तीन प्रकार के अर्थों की प्राप्ति हेतु काव्यशास्त्रियों ने अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना नामक तीन वृत्तियाँ बतलायी हैं। जिन लोगों ने तात्पर्यार्थ नामक तुरीय अर्थ का प्रतिपादन किया है, वे उसके लिए तात्पर्य नामक वृत्ति का प्रतिपादन करते हैं। जहाँ अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना शब्दों की वृत्तियाँ हैं, वही तात्पर्यवृत्ति वाक्य-वृत्ति के रूप में समादृत है। भारतीय चिन्तन-परम्परा में वाक्यार्थ विवेचक मीमांसकों के वाक्यार्थ सम्बन्धी दो सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, जिन्हें अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद के नाम से जाना जाता है। अभिहितान्वयवाद के प्रवर्त्तक कुमारिल भट्ट तथा अन्विताभिधानवाद के प्रवर्त्तक प्रभाकर मिश्र हैं। तात्पर्यवृत्ति मुख्यतया अभिहितान्वयवादी मीमांसकों द्वारा स्वीकृत है।

तात्पर्यवृत्ति एवं तात्पर्यार्थ का विवेचन नैयायिकों, मीमांसकों एवं काव्यशास्त्रियों द्वारा किया गया है। इस परिप्रेक्ष्य में तात्पर्यवृत्ति के उद्भावक प्रथम आचार्य कौन हैं? किस ग्रन्थ में सर्वप्रथम तात्पर्यवृत्ति का उल्लेख प्राप्त होता है? मीमांसकों, नैयायिकों, वैयाकरणों एव काव्यशास्त्रियों द्वारा विवेचित तात्पर्यार्थ या तात्पर्यवृत्ति के स्वरूप में क्या साम्य-वैषम्य है? वे कौन से काव्यशास्त्री हैं जो तात्पर्यवृत्ति को स्वीकार या अस्वीकार करते हैं? तात्पर्यवृत्ति को स्वीकार या अस्वीकार करने के लिए काव्यशास्त्रियों ने किस प्रकार के तर्क प्रस्तुत किये हैं? क्या काव्यशास्त्र में तात्पर्यवृत्ति की आवश्यकता है? इत्यादि शोध समस्या को लेकर प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक मणि शंकर द्विवेदी ने मेरे निर्देशन में अपने एम० फ़िल० शोध उपाधि हेतु

स्वीकृत लघुशोधप्रबन्ध का परिवर्द्धित रूप इस ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया है।

तात्पर्यवृत्ति नामक प्रस्तुत ग्रन्थ में लेखक ने तात्पर्यवृत्तिविषयक प्रत्येक बिन्दु पर विभिन्न आचार्यों द्वारा किये गये गहन विचार-विमर्श को आत्मसात् कर विषय-वस्तु का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया है। तात्पर्यवृत्तिविषयक किसी शास्त्रीय समस्या के उपस्थित होने पर लेखक ने गजनिमीलकया उसकी उपेक्षा नहीं की है अपितु उसका स्वरूप स्पष्ट करने का समुचित प्रयास किया है। एतदर्थ मैं लेखक को साधुवाद देते हुए आशीर्वचन प्रदान कर यह आशा करता हूँ कि यह ग्रन्थ शब्दवृत्तियों के अन्वेषणकर्त्ताओं द्वारा स्वीकृत होकर उनके एतद्विषक सम्यक् अवगाहन में अवश्य ही एक सोपान सिद्ध होगा।

वैशाख पूर्णिमा

विक्रम सम्वत् २०७१

डॉ० हरिराम मिश्र

आभार

विघ्नहर्त्ता, मङ्गलकर्त्ता भगवान् गणपति का स्मरण करते हुए बाबा विश्वनाथ एवं माँ अन्नपूर्णा की स्तुति कर मैं अपने ऋषिकल्प माता-पिता के चरणों में इस शोधग्रन्थ की पुष्पाञ्जलि अर्पित करता हूँ जिनके ऋणों से यदि इस जन्म में उऋण हो पाया तो अपने इस जीवन को सार्थक ही समझूँगा। मानव जीवन का जो परम लक्ष्य है उसे प्राप्त करने में सन्मित्रों की महती भूमिका होती है। इस परिप्रेक्ष्य में मैं अपने को सौभाग्यशाली मानता हूँ क्योंकि अपने अद्यावधि के जीवनकाल में जिन सन्मित्रों के मार्गदर्शन एवं सहयोग का आजीवन आभारी रहूँगा उन सन्मित्रों में सर्वप्रथम स्थान स्वयं मेरे पिताजी का है जिनका संघर्षपूर्ण त्यागमय जीवन सदैव मेरी प्रेरणा का स्रोत रहा है। पिताजी ने मुझे न केवल एक पुत्र के रूप में अपने स्नेहकवच से सर्वदा आच्छादित रखा है बल्कि एक सन्मित्र की भाँति पग-पग पर उचित मार्गदर्शन प्रदान कर "लालयेत् पञ्चवर्षाणि दशवर्षाणि ताडयेत्। प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्।।" इस नीति कथन को अक्षरशः सत्य सिद्ध किया है।

प्रस्तुत शोधग्रन्थ जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली के विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र में एम० फिल० की उपाधि के लिए स्वीकृत लघुशोधप्रबन्ध का सम्वर्द्धित एवं परिवर्द्धित रूप है। आज इस शोधग्रन्थ के प्रकाशन के शुभ अवसर पर उनलोगों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करना शोधार्थी का परम कर्त्तव्य है, जिनके प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष मार्गदर्शन में यह ग्रन्थ पूर्णता को प्राप्त हो सका। यद्यपि शब्दों के माध्यम से तो यह कार्य अतीव दुष्कर है तथापि मैं बालचपलतावश कुछ निवेदन अवश्य करना चाहता हूँ।

इस क्रम में सर्वप्रथम मैं अपने प्रातः स्मरणीय पूज्य दादाजी पं० श्री

रङ्गनाथ उपाध्याय के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिन्होंने संस्कृत जगत् में मुझे प्रविष्ट कराकर सदैव मेरा मार्गदर्शन किया है। आज मुझे सारस्वत साधना का जो शुभ अवसर प्राप्त हो सका है, वह दादाजी के आशीर्वाद का ही प्रतिफलन है।

मैं अपने आराध्य परम पूज्य गुरुजी डॉ० उमाकान्त चतुर्वेदी (उपाचार्य, साहित्यविभाग, संस्कृत विद्या धर्मविज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी) का आजीवन ऋणी रहूँगा जिन्होंने संस्कृत की प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान कर मुझे इस योग्य बनाया जिससे देश के प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय में मुझे उच्च-शिक्षा प्राप्त करने का सुअवसर प्राप्त हो सका। स्नातक कक्षा की अवधि में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के जिन गुरुजनों से मुझे अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ उनमें प्रो० मनुलता शर्मा, प्रो० गोपबन्धु मिश्र, प्रो० सदाशिव कुमार द्विवेदी, डॉ० करुणानन्द मुखोपाध्याय एवं डॉ० शरदिन्दु त्रिपाठी के वैदूष्यपूर्ण उद्बोधन मेरे जीवन के सदैव पथ-प्रदर्शक बने रहेंगे। इन गुरुजनों का चरण-स्पर्श कर मैं इनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए आशा करता हूँ कि इनका मार्गदर्शन मुझे सदैव प्राप्त होता रहेगा।

मैं बहुत ही सौभाग्यशाली हूँ कि मुझे देश के दो विश्वविख्यात विश्वविद्यालयों काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी एवं जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली में उच्च अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त हुआ जिसे मैं अपने माता-पिता का आशीर्वाद एवं अपने पूर्वजन्म का पुण्य ही मानता हूँ। मैं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का विशेष आभारी हूँ जिसने एम० फिल० कक्षा के दौरान कनिष्ठ शोध अध्येतावृत्ति (JRF) एवं सम्प्रति वरिष्ठ शोध अध्येतावृत्ति (SRF) प्रदान कर शोधकार्य की अवधि में पर्याप्त आर्थिक सहायता प्रदान किया है।

इस ग्रन्थ के लेखन से प्रकाशन तक के दीर्घ अवधि में जिनका अतुलनीय योगदान रहा है, उनमें अग्रगण्य मेरे शोध-निर्देशक डॉ० हरिराम मिश्र महोदय का आभार मैं किन शब्दों में करूँ, एतदर्थ मेरे पास शब्द नहीं है। उनके स्नेह एवं योगदान का मैं केवल अनुभव ही कर सकता हूँ, शब्दों

द्वारा अभिव्यक्त नहीं कर सकता। मैं उन्हें सादर नमन करते हुए ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वे सर्वदा स्वस्थ एवं दीर्घायु रहें जिससे उनके मार्गदर्शन का सौभाग्य हमें हमेशा प्राप्त होता रहे। यह शोधग्रन्थ उन्हीं के सफल निर्देशन में पहले लघुशोधप्रबन्ध के रूप में एम० फिल उपाधि हेतु प्रस्तुत किया गया था और अब यह सम्वर्द्धित एवं परिवर्द्धित रूप में प्रकाशित हो रहा है। डॉ० मिश्र व्याकरणशास्त्र एवं काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। शोधार्थी का यह सौभाग्य है कि एम० फिल० में इनके सफल निर्देशन में काव्यशास्त्रविषयक शोधकार्य करने का एवं सम्प्रति पीएच० डी० में इनके निर्देशन में व्याकरणशास्त्रविषयक शोधकार्य करने का अवसर प्राप्त हो सका है। महोदय ने इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में पुरोवाक् लिखकर जो आशीर्वचन प्रदान किया है, एतदर्थ मैं इनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए आशा करता हूँ कि ये सदैव मेरे पथप्रदर्शक बने रहेंगे।

मैं इस शोधग्रन्थ की पूर्णता के लिए अपने विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के गुरुजनों पूर्व केन्द्राध्यक्षा मातृकल्पा प्रो० शशिप्रभा कुमार एवं पितृकल्प प्रो० चौडुरि उपेन्द्र राव (सम्प्रति केन्द्राध्यक्ष), डॉ० सन्तोष कुमार शुक्ल, डॉ० रामनाथ झा, डॉ० गिरीश नाथ झा एवं डॉ० रजनीश कुमार मिश्र का सदैव ऋणी रहूँगा। मुझे गर्व है कि मुझे अपने केन्द्र के वैसे गुरुजनों की छत्र-छाया में अध्ययन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ जो विविध शास्त्रों में पारङ्गत एवं स्वकीय विषयों में सिद्धहस्त हैं। इन गुरुजनों ने स्नातकोत्तर कक्षा के दौरान इस शोधग्रन्थ का जो बीजारोपण किया था आज वह पुष्पित पल्लवित होकर प्रकाशित हो रहा है, अतः मैं अपने समस्त गुरुजनों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

मैं डॉ० सन्तोष कुमार शुक्ल महोदय का विशेष आभारी हूँ जिन्होंने न केवल इस ग्रन्थ के मीमांसा दर्शन विषयक गूढ़ तत्त्वों को समझने में मुझे महत्त्वपूर्ण दृष्टि प्रदान कर अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये अपितु इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु प्रोत्साहित कर मेरा सतत मार्गदर्शन भी किया है। मैं ईश्वर से उनके दीर्घायु एवं सतत आरोग्यता की कामना करता हूँ, जिससे वे मुझे हमेशा यथोचित मार्गदर्शन प्रदान करते रहें।

इस शोधग्रन्थ के प्रकाशन के अवसर पर मैं अपने समस्त मित्रों एवं सहयोगियों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने इस ग्रन्थ की परिपूर्णता में यथोचित सहयोग प्रदान किया है। मैं जे० एन० यू० के अपने सहाध्यायी मित्रों शिवलोचन, प्रवीण, चमन, रोहित, सर्वेश आदि का एवं बी०एच०यू० के सहाध्यायी मित्रों कौशलेन्द्र, अभिनीत एवं आशीष आदि का विशेष आभारी हूँ जिनका अपेक्षित एवं यथोचित सहयोग हमेशा प्राप्त होता रहा है।

मेरे अनन्य मित्रों में अवनीशजी का नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि अवनीश जी (शोधच्छात्र, भौतिक विज्ञान, जे०एन०यू० नई दिल्ली) का अध्ययनक्षेत्र भौतिक विज्ञान का है तथापि किसी भी विषय पर चर्चा के दौरान उनकी तार्किक एवं दूरदर्शी बातें मुझे हमेशा कुछ विशेष करने की सत्प्रेरणा देती रहती है।

ग्रन्थ लेखन के दौरान छात्रावास के सहकक्षवासी अनुज प्रचेतस् को मैं हार्दिक धन्यवाद देते हुए उसके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हूँ, जिन्होंने मेरे शोधकार्य के सामग्री सङ्कलन में अपेक्षित सहयोग प्रदान किया।

उच्च अध्ययन हेतु प्रोत्साहित एवं यथोचित सहयोग प्रदान करने के लिए मैं अपने परिवार के सभी सदस्यों, सम्बन्धियों एवं शुभचिन्तकों का हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ, जिनके प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष योगदानों के परिणामस्वरूप मैं इस योग्य बन सका। मैं अपने अनुज आदित्य कुमार द्विवेदी को विशेष धन्यवाद एवं शुभाशीष देता हूँ, जिन्होंने इस शोधग्रन्थ के सामग्री सङ्कलन में मेरा पूर्ण सहयोग किया है। एतदर्थ मैं उसकी उज्जवल भविष्य की कामना करता हूँ।

उपयुक्त शोध-सामग्री के सङ्कलन में जिन पुस्तकालयों का सहयोग प्राप्त हुआ उनमें विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र पुस्तकालय जे० एन० यू०, केन्द्रीय पुस्तकालय जे०एन०यू०, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान पुस्तकालय जनकपुरी, दिल्ली, लालबहादुर शास्त्री पुस्तकालय, दिल्ली, केन्द्रीय पुस्तकालय बी० एच० यू०, वाराणसी, तिब्बती उच्चतर अध्ययन केन्द्र पुस्तकालय सारनाथ, वाराणसी, विश्वनाथ पुस्तकालय गोदौलिया, वाराणसी का नाम

विशेषरूप से उल्लेखनीय है। अतः उपर्युक्त पुस्तकालयों के अधिकारियों एवं कर्मचारियों के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

इस ग्रन्थ के शीघ्र प्रकाशन के लिय मैं विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली के संचालक श्री बद्रीनाथ तिवारी जी को धन्यवाद एवं उनके प्रति आभार प्रकट करते हुए आशा करता हूँ कि वे भविष्य में इसी प्रकार मेरे अन्य ग्रन्थों के प्रकाशन में भी पूर्ण सहयोग प्रदान करेंगे।

अन्त में इस शोधग्रन्थ की परिणति में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग करने वाले समस्त गुरुजनों, अपने परिवार के सभी सदस्यों एवं मित्रों का आभार प्रकट कर बाबा विश्वनाथ से सदैव अपनी सद्बुद्धि की कामना करते हुए प्रार्थना करता हूँ कि वे मुझे सदा कल्याणकारी एवं लोकोपयोगी कार्य करने की शक्ति प्रदान करते रहें। यद्यपि शोधार्थी ने पुस्तक के विषय-वस्तु को यथासम्भव प्रामाणिक एवं त्रुटि रहित प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास किया है तथापि यदि बालचपलतावश किसी प्रकार की विषयगत या लेखगत त्रुटि पायी जाती है तो सुधीजन इसे क्षमा कर अपने महत्त्वपूर्ण सुझाव द्वारा मेरा मार्गदर्शन करते हुए मुझे अनुगृहीत करें।

जे०एन०यू०, नई दिल्ली — विनयावनत

वैशाख पूर्णिमा — **मणि शंकर द्विवेदी**

विक्रम सम्वत् २०७१

भूमिका

सम्पूर्ण पृथ्वी पर अनेक जीवधारी निवास करते हैं जिनका अपना-अपना एक विशिष्ट समुदाय है। प्रत्येक समुदाय के जीवधारी अपने समुदाय के सदस्यों तथा अन्य जीवधारियों से सम्पर्क स्थापित करने में इसलिए सक्षम हो पाते हैं क्योंकि उन्हें भाषारूपी अमूल्य तत्त्व प्राप्त है। भाषा वह माध्यम है जिसके द्वारा इस चराचरात्मक जगत् का व्यावहारिक क्रियाकलाप निष्पन्न होता है। यही कारण है कि भारतीय चिन्तन परम्परा में भाषा को केन्द्रीय स्थान प्राप्त है। भारतीय मनीषियों ने भाषा को अपने चिन्तन का केन्द्रबिन्दु बनाकर पर्याप्त चिन्तन मनन किया है। भाषा चिन्तन की परम्परा का जो सूत्रपात वैदिक ऋषियों ने किया है उसे बाद के शास्त्रकारों ने अपेक्षित विस्तार प्रदान किया है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, विभिन्न दर्शनों एवं काव्यशास्त्र में भाषाविषयक चिन्तन का उत्तरोत्तर विकास परिलक्षित होता है। इन सभी शास्त्रों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से इस चिन्तन परम्परा को समृद्ध बनाने में अपना अमूल्य योगदान दिया है।

मानव अपने भावों को व्यक्त करने के लिए जिस सार्थक, मौखिक साधन को अपनाता है वह भाषा कहलाती है। यद्यपि सङ्केत आदि के द्वारा भी कुछ भावों की अभिव्यक्ति हो जाती है; परन्तु अपने भावों को सूक्ष्म एवं स्पष्ट रूप में व्यक्त करने का साधन भाषा ही है। चिन्तन, मनन और विचार का साधन भी भाषा ही है। मानव के विचार ही उसका समाज के साथ सम्पर्क स्थापित करते हैं। यह सम्पर्क भाषा के माध्यम से ही होता है। यदि मानव के पास भाषा जैसा अमोघ अस्त्र न होता तो मनुष्य भी पशु-पक्षियों के तुल्य अपने भावों को अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रकट करने में असमर्थ रहता। आचार्य भर्तृहरि ने शब्द की महत्ता प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि

संसार में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो शब्दानुगम के विना सम्भव हो। सम्पूर्ण ज्ञान शब्द से नित्य-संसृष्ट रूप में ही प्रतीत होता है—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।

(वाक्यपदीय-१.१२३)

भर्तृहरि शब्दतत्त्व को प्रकाशों का भी प्रकाशक मानते हैं। उनके अनुसार यदि ज्ञान में नित्यसन्निहित शब्दशक्ति न रहे तो किसी भी वस्तु का बोध सम्भव नहीं है—

वाग्रूपता चेन्निष्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी।।

(वाक्यपदीय १.१२४)

महाकवि दण्डी अपने काव्यादर्श का प्रारम्भ ही उस वाक् की महिमा की स्थापना से करते हैं, जिस वाक् की कृपा से लोकयात्रा सम्पन्न होती है—

इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा।
वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते।।

(काव्यादर्श १/३)

दण्डी के अनुसार जिस शब्दरूप ज्योति के अभाव में त्रिभुवन अज्ञानान्धकार में लीन रहता है, उस शब्द का उचित प्रयोग आवश्यक है अन्यथा काव्य उसी प्रकार उपेक्ष्य हो जाता है, जैसे कुष्ठ के दाग से सुन्दर शरीर—

इदमन्धंतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।
तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्।।

(काव्यादर्श १.४,७)

भाषारूपी इस दैवी अंश के द्वारा ही मनुष्य इस संसार का सर्वोत्तम जीव माना जाता है। वह अपने वाग्-व्यवहार द्वारा ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में अपना प्रभुत्व स्थापित किये हुए है। भाषा के कारण ही वह चर और

अचर जगत् का स्वामी भी है। भाषा ही वह दिव्य ज्योति है जो मानव को ऋषि, देवता या विद्वान् बनाती है—

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्।।

(ऋग्वेद १०/१२५/५)

भाषाचिन्तन की परम्परा अनादि काल से ही व्यवहृत है। वैदिक वाङ्मय में भाषा को वाक् तत्त्व से अभिहित कर वैदिक ऋषियों ने भाषा सम्बन्धी प्रत्येक पहलुओं पर विस्तृत विचार विमर्श किया है। वेदों, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों एवं निरुक्त, प्रातिशाख्य, शिक्षा आदि दर्शन ग्रन्थों में वाक्-तत्त्व का विवेचन हमें पूर्ण रूप से प्राप्त होता है। ऋग्वेद का एक सम्पूर्ण सूक्त ही वाक्-सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है जहाँ सम्पूर्ण विश्व को ही वाक्-तत्त्व से उत्पन्न एवं वाक्-तत्त्व पर आधारित बताया गया है—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चरामि अहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा विभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा।।

(ऋग्वेद १०/१२५/१)

ऋग्वेद के अनुसार देवों ने दिव्य वाणी को उत्पन्न किया। उसे सब प्रकार के पशु बोलते हैं। वह दिव्य वाक्-तत्त्व ऐश्वर्य और बल दोनों को देने वाला है। वह कामधेनु है; वह हमारी सब कामनाओं को पूर्ण करती है—

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु।।

(ऋग्वेद ८/१००/११)

ऋग्वेद के अनुसार यह वाक्-तत्त्व वस्तुतः एक है जो इन्द्र, वरुण, यम, मातरिश्वा आदि अनेक नामों से व्यवहृत होता हुआ वाग्व्यवहार को सम्पन्न कराता है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।

(ऋग्वेद ८/१६४/४६)

इस प्रकार वैदिक वाङ्मय में विवेचित वाक्-तत्व विषयक अवधारणा को बाद के शास्त्रकारों ने पल्लवित-पुष्पित कर वाणी की महत्ता को प्रतिपादित किया है।

भाषा मानव जीवन का वह अवदान है, जिसने भाव और विचार के विनिमय की शक्ति प्रदान कर मानव जीवन को समाज के रूप में सङ्घटित किया, उन्हें चिन्तन और अभिव्यक्ति की क्षमता प्रदान कर उसकी सांस्कृतिक चेतना का विकास किया। भाषा के बिना न तो चिन्तन सम्भव है और न अपने बोध का दूसरों तक सम्प्रेषण ही, क्योंकि हमारे समग्र बोध भाषा-बद्ध ही होते हैं। प्रकृति ने मानव मस्तिष्क की विशिष्ट संरचना में वाक्-केन्द्र का निर्माण कर उसे भाषिक क्षमता प्रदान की और ध्वनि यन्त्रों की रचना कर स्फुट ध्वनियों में अपने बोध को व्यक्त करने की शक्ति दी। मनुष्य ने अपनी प्रकृति प्रदत्त भाषिक क्षमता से अर्थहीन स्फुट ध्वनियों का विविध रूपों में संयोजन कर विविध भाषाओं के सार्थक बोध संवाहक एवं ज्ञान के साधक स्वरूप का निर्माण किया जिससे विविध समुदायों के बीच परस्पर संवाद स्थापित हुआ जिसने विविध समुदायों में परस्पर सहभागिता को स्थापित कर उनके सर्वाङ्गीण विकास की प्रक्रिया सुनिश्चित की।

चूँकि भाषा प्रणिमात्र की उपकारिका है, अतः इसके स्वरूप को समझना आवश्यक है। भाषा के स्वरूप को स्थूल रूप में समझने के लिए उसके तीन बिन्दुओं पर चर्चा आवश्यक है— शब्द, अर्थ एवं दोनों का सम्बन्ध। जब कोई वक्ता किसी श्रोता से भाषिक सम्पर्क स्थापित करता है तो इसके लिए वह किसी शब्द का उच्चारण करता है जिसका एक निश्चित अर्थ होता है जो उसकी अमूर्त भावनाओं को अभीष्ट व्यक्ति तक सम्प्रेषण में सहायता करता है। शब्द, अर्थ एवं उनके बीच के सम्बन्ध का स्वरूप क्या है, वह नित्य है अथवा अनित्य एतद्विषयक विशद विवेचन वैयाकरणों, दार्शनिकों एवं काव्यशास्त्रियों ने किया है। शब्दार्थविषयक अवगति तबतक पूर्ण नहीं हो सकती जबतक शब्दवृत्तियों का ज्ञान न हो। शाब्दिकों ने शब्द से अर्थज्ञान की जो प्रक्रिया बतलायी है उसमें शब्दवृत्तियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, क्योंकि प्रत्येक शब्द एक निश्चित शब्दवृत्ति के माध्यम से

ही एक निश्चित अर्थ का बोध कराता है। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने शब्द के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है— वाचक, लक्षक एवं व्यञ्जक। इन तीन प्रकार के शब्दों से क्रमशः तीन प्रकार के अर्थों का बोध होता है— वाच्य, लक्ष्य एवं व्यङ्ग्य। इन तीन प्रकार के अर्थों के अतिरिक्त कुछ लोगों ने तात्पर्यार्थ नामक चौथा अर्थ भी स्वीकार किया है जैसा कि मम्मट का कथन है— **"तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्।"** वाचकादि शब्द जिस व्यापार के द्वारा अपने अर्थ का बोध कराते हैं उसे 'वृत्ति' कहते हैं। इसे शक्ति, वृत्ति, व्यापार आदि अनेक नामों से अभिहित किया गया है। ये वृत्तियाँ हैं— अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना। वाचक शब्द अभिधावृत्ति के माध्यम से वाच्यार्थ का, लाक्षणिक शब्द लक्षणावृत्ति के माध्यम से लक्ष्यार्थ का तथा व्यञ्जक शब्द व्यञ्जनावृत्ति के माध्यम से व्यङ्ग्यार्थ का बोध कराते हैं। जिन्होंने तात्पर्यार्थ नामक चौथा अर्थ स्वीकार किया है, उनके अनुसार तात्पर्यवृत्ति से तात्पर्यार्थ का बोध होता है। ध्यातव्य है कि इन वृत्तियों को बाद के शब्दशास्त्रियों ने शब्दशक्ति के नाम से भी अभिहित किया है लेकिन चूँकि वैयाकरण अभिधावृत्ति को शक्ति के नाम से अभिहित करते हैं तथा ये वृत्तियाँ शब्दव्यापार हैं अतः इन्हें शब्दशक्ति के स्थान पर शब्दवृत्ति कहना ज्यादा औचित्यपूर्ण होगा। वाक्यार्थ बोध की प्रक्रिया में इन शब्दवृत्तियों की महती भूमिका होती है। इस प्रक्रिया में अभिधावृत्ति के द्वारा सर्वप्रथम पदार्थोपस्थिति होती है। तदनन्तर व्यस्त पदार्थों में अन्वय होता है तत्पश्चात् आकाङ्क्षा, योग्यता एवं सन्निधि के कारण तात्पर्यवृत्ति द्वारा अन्वित पदार्थों का प्रकाशन कर वाक्यार्थ बोध कराया जाता है। तात्पर्यवृत्ति द्वारा बोधित पदार्थों के अन्वित अर्थ को ही वाक्यार्थ या तात्पर्यार्थ कहा जाता है। तात्पर्यवृत्ति की स्वीकृति मुख्य रूप से अभिहितान्वयवादी भाट्टमीमांसकों में है जबकि अन्विताभिधानवादी प्राभाकर मीमांसक इसे स्वीकार नहीं करते हैं। तात्पर्यवृत्ति के समर्थक जयन्त भट्ट प्रभृति नैयायिक तथा धनञ्जय, धनिक प्रभृति काव्यशास्त्री हैं।

प्रस्तुत शोधग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य तात्पर्यवृत्तिविषयक सम्यक् विचार है जिसमें मुख्य रूप से तात्पर्यवृत्ति का स्वरूप, उसके उद्भव एवं विकास,

उसकी स्वीकृति, अस्वीकृति विषयक काव्यशास्त्रेतर मतों का सामान्य विवेचन प्रस्तुत कर विशेषरूप से काव्यशास्त्रियों के एतद्विषयक मतों का सम्यक् अनुशीलन अपेक्षित रहेगा। यहाँ उल्लेखनीय है कि तात्पर्यवृत्ति की अर्थावबोधप्रक्रिया में महत्ता निस्सन्देह ही अनेक विद्वानों को मान्य है परन्तु उत्तरवर्ती शोध कार्यों में प्रायशः तात्पर्यार्थ का ही विचार मुख्यरूप से किया गया है, तात्पर्यवृत्ति का विवेचन अपेक्षित रूप से नहीं हो पाया है। सम्भवतः यही कारण है कि अत्यधिक अन्वेषण के पश्चात् भी इस विषय पर पर्याप्त शोधसामग्री शोधार्थी को प्राप्त न हो सकी। ध्यातव्य है कि पं० रामानुज ताताचार्य ने अपने ग्रन्थ 'शाब्दबोधमीमांसा' के प्रथम भाग में तात्पर्यार्थ व तात्पर्यवृत्ति का सामान्येन निबन्धन किया है। इस ग्रन्थ में 'अथ तात्पर्यविचारः' नामक शीर्षक के अन्तर्गत पं० ताताचार्य ने उदयनाचार्य प्रणीत न्यायकुसुमाञ्जलि, गङ्गेशोपाध्याय प्रणीत तत्त्वचिन्तामणि एवं महादेव प्रणीत न्यायकौस्तुभ आदि न्यायदर्शन के ग्रन्थों के आधार पर न्यायदर्शनाभिमत तात्पर्यार्थ का विवेचन किया है; इसी प्रकार परमलघुमञ्जूषाकार वैयाकरण नागेश भट्ट, वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र तथा मीमांसक कुमारिल भट्ट के तात्पर्यार्थविषयक विचारों का भी विश्लेषण किया गया है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि शाब्दबोधमीमांसाकार ने अपने प्रतिपादन में तात्पर्यार्थ-विवेचन को ही प्रमुखता प्रदान की है, यद्यपि इस ग्रन्थ में न्यायमञ्जरीकार आचार्य जयन्त भट्ट तथा 'सरस्वती-सुषमा' नामक पत्रिका में प्रकाशित मीमांसाकौस्तुभकार आचार्य खण्डदेव के मतानुसार तात्पर्यवृत्ति का भी सङ्क्षिप्त विवेचन किया गया है तथा काव्यशास्त्रियों के मत में भी तात्पर्यवृत्ति की स्वीकृति का उल्लेख किया गया है परन्तु यहाँ केवल काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट एवं काव्यप्रकाश की प्रदीप टीका में उल्लिखित तात्पर्यवृत्ति का नाममात्रेण सङ्केत अर्थात् उद्देशमात्र किया गया है। इस विषय पर अपेक्षित शास्त्रीय चर्चा इस ग्रन्थ में नहीं मिलती।

प्रस्तुत शोधकार्य मुख्यरूप से काव्यशास्त्रसम्मत तात्पर्यवृत्ति के समग्र विवेचन पर सङ्केन्द्रित है, अतः उपर्युक्त ग्रन्थ में विवेचित तात्पर्यविषयक विचारों से इसका क्षेत्रगत वैशिष्ट्य स्पष्टतया परिलक्षित होता है। उल्लेखनीय

है कि पं० तातार्चाय के ग्रन्थ में तथा इस विषय से सम्बन्धित अन्य ग्रन्थों में भी तात्पर्यवृत्ति की अपेक्षा तात्पर्यार्थ ही प्राधान्येन आलोचित हुआ है। प्रस्तुत शोधकार्य का वैशिष्ट्य इस अर्थ में भी है कि यहाँ तात्पर्यवृत्तिविषयक विचारों की सविस्तर समीक्षा की गयी है, इन विचारों में भी विशेषरूप से काव्यशास्त्रियों द्वारा विवेचित तात्पर्यवृत्ति के स्वरूप का यहाँ प्रमुखता से उपस्थापन किया गया है, एवं इसी आलोक में विभिन्न विद्वानों के मतों के विश्लेषणात्मक अध्ययन का प्रयास किया गया है।

यद्यपि इस शोधग्रन्थ का केन्द्रबिन्दु तात्पर्यवृत्तिविषयक विविध विचार है तथापि एतद्विषयक सम्पूर्णज्ञान के लिए यथास्थान संक्षिप्त रूप में शब्द, अर्थ, शब्दार्थसम्बन्ध, शाब्दबोध, वाक्य एवं वाक्यार्थ विचार के साथ-साथ अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना वृत्तियों का सामान्य विवरण भी प्रस्तुत किया गया है जिससे तात्पर्यविषयक पूर्ण अवगति की प्राप्ति हो सके।

प्रस्तुत शोधग्रन्थ मुख्यरूप से तीन अध्यायों में विभक्त है। **'विषय-प्रवेश'** नामक प्रथम अध्याय में शब्दार्थविषयक विवेचन है, जिसमें सर्वप्रथम वैदिक वाङ्मय में उपस्थित शब्दतत्त्व से सम्बन्धित चिन्तन का उपस्थापन कर वैयाकरणों, नैयायिकों, मीमांसकों एवं काव्यशास्त्रियों के शब्द, अर्थ एवं शब्दार्थसम्बन्धविषयक मतों का संक्षेप में विवरण प्रस्तुत करते हुए अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना शब्दवृत्तियों का सामान्य विवेचन किया गया है।

काव्यशास्त्रेतर शास्त्रों में तात्पर्यवृत्तिविषयक विचार

नामक द्वितीय अध्याय मुख्य रूप से तात्पर्यसम्बन्धी विचार को समर्पित है। इस अध्याय में तात्पर्यवृत्ति के उद्भव, स्वरूप एवं वाक्यार्थबोध में उसकी भूमिका के साथ-साथ तात्पर्यविषयक वैयाकरणों, नैयायिकों वेदान्तियों एवं मीमांसकों के मतों पर प्रकाश डालते हुए वाक्य एवं वाक्यार्थ का विचार कर, मीमांसकों के वाक्यार्थ सम्बन्धी अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद पर विस्तृत विचार किया गया है।

तृतीय-अध्याय **काव्यशास्त्रीय तात्पर्यवृत्तिविषयक विचार** नाम से

अभिहित है। इस अध्याय में तात्पर्यवृत्तिविषयक काव्यशास्त्रियों के मतों का विशद विवेचन किया गया है, जिसमें तात्पर्यवृत्ति के समर्थक आचार्यों द्वारा इसके पक्ष में उपस्थित किये गये तर्कों एवं तात्पर्यवृत्ति को स्वतन्त्र वृत्ति न मानकर अभिधादि अन्य वृत्तियों में समावेश करने के पक्ष में तर्क देने वाले आचार्यों के मतों पर प्रकाश डाला गया है। अन्त में समीक्षात्मक उपसंहार के साथ इस शोधग्रन्थ की परिणति हुई है।

ध्यातव्य है कि शोधार्थी को तात्पर्यवृत्ति पर शोध करने की प्रेरणा इस विषय पर हुए अपर्याप्त कार्यों से हुयी। शब्दवृत्तियों पर तो अनेक शोधप्रबन्ध एवं स्वतन्त्र पुस्तकें लिखीं जा चुकी हैं किन्तु उन सब में मुख्य रूप से अभिधादि तीन वृत्तियों पर ही अत्यधिक विचार-विमर्श किया गया है, तात्पर्यवृत्ति को आनुषङ्गिक रूप में उल्लेख मात्र कर दिया गया है। शोधार्थी के दृष्टिकोण में जितना व्यापक रूप से विचार-विमर्श अभिधादि वृत्तियों पर प्राप्त होता है उस अनुपात में तात्पर्यवृत्ति प्रायशः उपेक्षित ही रही है। अतः इस विषय पर शोधार्थी का आकृष्ट होना स्वाभाविक ही था।

यहाँ शोधार्थी द्वारा यह कहना कि उसने इस विषय पर सर्वथा नूतन एवं मौलिक कार्य किया है, सर्वथा जल्प ही कहलायेगा क्योंकि हम सर्वथा नवीन वस्तु की उद्भावना करने में समर्थ ही कहाँ हैं? यह तो शोधार्थी के उच्चकोटि के रसनाग्रनर्तकी शास्त्रविद्याओं में पारङ्गत गुरुजनों से अध्ययन का प्रतिफल है कि उसे इस विषय की जटिलता को समझने की दृष्टि प्राप्त हो सकी। अतः यह शोधार्थी द्वारा तात्पर्यवृत्तिविषयक आचार्यों के तर्क-वितर्क को समझकर उस विषय की जटिलता को सरल रूप में पाठकों के समक्ष उपस्थित करने का एक अल्पप्रयासमात्र है। अन्त में जयन्त भट्ट के शब्दों में—

कुतो वा नूतनं वस्तु वयमुत्प्रेक्षितुं क्षमाः।
वचोविन्यासवैचित्र्यमात्रमत्र विचार्यताम्।।

(न्यायमञ्जरी १/१/८)

विषयानुक्रमणिका

पुरोवाक् (vii)
आभार (xi)
भूमिका (xvii)
सङ्केत-सूची (xxix)
प्रथम अध्याय : विषय प्रवेश १
१.१. शब्दार्थविचार १
१.१.१. शब्दतत्त्व १
१.१.१.१. वैदिक वाङ्मय में शब्दतत्त्व १
१.१.१.२ व्याकरणशास्त्र अभिमत शब्दतत्त्व ६
१.१.१.३ न्यायवैशेषिक अभिमत शब्दतत्त्व ९
१.१.१.४ मीमांसा अभिमत शब्दतत्त्व १०
१.१.१.५. साहित्यशास्त्र अभिमत शब्दतत्त्व ११
१.१.२. अर्थतत्त्व १३
१.१.२.१. अर्थ का स्वरूप १३
१.१.२.२ अर्थ का लक्षण १६
१.१.२.३. सङ्केतग्रह का विषय १७
सङ्केतग्रह विषयक विविध मत १७
मीमांसकों का मत १९
नैयायिकों का मत २०
बौद्धों का मत २०

१.१.३ शब्दार्थसम्बन्ध २१
१.१.३.१ शब्दार्थसम्बन्धविषयक वैयाकरणों का मत २१
आचार्य पतञ्जलि का मत २१
व्याडि का मत २२
भर्तृहरि का मत २२
१.१.३.२ शब्दार्थसम्बन्धविषयक न्याय-वैशेषिक मत २३
१.१.३.३. शब्दार्थसम्बन्धविषयक मीमांसक मत २४
१.१.३.४ शब्दार्थसम्बन्धविषयक साहित्यशास्त्रीय मत २५
१.२. शब्दवृत्ति विचार २७
१.२.१ अभिधावृत्ति २९
१.२.२. लक्षणावृत्ति ३१
१.२.३ व्यञ्जनावृत्ति ३५
द्वितीय अध्याय : काव्यशास्त्रेतर शास्त्रों में तात्पर्यवृत्तिविषयक विचार ४८
२.१. तात्पर्य ५०
२.१.१. तात्पर्य शब्द का अर्थ ५०
२.१.२. तात्पर्य विषयक शास्त्रीय मत ५१
२.१.२.१. व्याकरण अभिमत तात्पर्य ५१
२.१.२.२. न्याय अभिमत तात्पर्य ५२
२.१.२.३. वेदान्त अभिमत तात्पर्य ५४
२.१.२.४. मीमांसा अभिमत तात्पर्य ५६
२.२. तात्पर्यवृतिः उद्भव एवं स्वरूप ५८
२.२.१. तात्पर्यवृत्ति का उद्भव ५८
२.२.२. तात्पर्यवृत्ति का स्वरूप ६१
२.३. तात्पर्यवृत्ति एवं वाक्यार्थ ६१

२.३.१. वाक्य का स्वरूप ६२

२.३.१.१. वाक्य गठन के आधारभूत तत्त्व ६३

२.३.२. वाक्यार्थ का स्वरूप **६७**

२.३.२.१. वाक्यार्थ का निमित्त ६९

२.३.२.१.१. अन्विताभिधानवाद ७१

२.३.२.१.२. अभिहितान्वयवाद ७५

२.३.३ वाक्यार्थबोध में तात्पर्यवृत्ति की भूमिका **८०**

तृतीय अध्याय : काव्यशास्त्रीय तात्पर्यवृत्तिविषयक विचार **९३**

३.१. ध्वनिवादी आचार्य एवं तात्पर्यवृत्तिविषयक उनका मन्तव्य **९७**

३.१.१. आचार्य आनन्दवर्द्धन का तात्पर्यविषयक मन्तव्य ९८

३.१.२. अभिनवगुप्तपादाचार्य अभिमत तात्पर्यवृत्ति १००

३.१.३. भोजदेव अभिमत तात्पर्यवृत्ति १०५

३.१.४. आचार्य मम्मट एवं तात्पर्यविषक उनका मन्तव्य ११०

३.१.५. विद्यानाथ एवं तात्पर्यवृत्ति १२१

३.१.६. आचार्य विश्वनाथ एवं तात्पर्यवृत्ति १२४

२.२. ध्वनिविरोधी/तात्पर्यवादी आचार्य एवं तात्पर्यवृत्ति विषयक उनका मन्तव्य **१२९**

२.२.१ ध्वनिविरोधी आचार्य महिमभट्ट एवं तात्पर्यवृत्ति १२९

२.२.२. तात्पर्यवादी धनञ्जय एवं धनिक १३०

उपसंहार **१४६**

सन्दर्भ-सूची **१५३**

शब्दानुक्रमणिका **१६४**

सङ्केताक्षर-सूची

अथर्व०	:	अथर्ववेदसंहिता
अ०वृ०मा०	:	अभिधावृत्तिमात्रिका
आ०	:	आह्निक
ऋग्	:	ऋग्वेदसंहिता
ऐत०ब्रा०	:	ऐतरेय ब्राह्मण
का० ल०	:	काव्यालङ्कार
का०द०	:	काव्यादर्श
का०प्र०	:	काव्यप्रकाश
का० सू०	:	काव्यालङ्कारसूत्र
का०	:	कारिका
कै०उ०	:	कैवल्य उपनिषद्
गो०ब्रा०	:	गोपथ ब्राह्मण
जै०उ०ब्रा०	:	जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण
त०वा०	:	तन्त्रवार्तिक
त०बि०	:	तत्त्वबिन्दु
त०सं०	:	तर्कसङ्ग्रह
तै० ब्रा०	:	तैतिरीय ब्राह्मण
द० रू०	:	दशरूपक
ध्व० लो०	:	ध्वन्यालोक
ध्व०लो०लो०	:	ध्वन्यालोकलोचन
न्या० सू०	:	न्यायसूत्र
न्या० भा०	:	न्याय भाष्य

न्या०म०	:	न्यायमञ्जरी
न्या०र०मा	:	न्यायरत्नमाला
न्या०कु०	:	न्यायकुसुमाञ्जलि
न्या०सि०मु०	:	न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
ना०शा०	:	नाट्यशास्त्र
पस्पश०	:	पस्पशाह्निक
प्र०प०	:	प्रकरणपञ्चिका
पा०सू०	:	पाणिनीय सूत्र
बृ०उ०	:	बृहदारण्यक उपनिषद्
बा०बो०टी०	:	बालबोधिनी टीका
भा०चि०	:	भाट्टचिन्तामणि
भा०दी०	:	भाट्टदीपिका
म०भा०	:	महाभाष्य
मी०सू०	:	मीमांसा सूत्र
रा०मा०बा०का०	:	रामचरितमानस बालकाण्ड
व्य०वि०	:	व्यक्तिविवेक
वा०प०	:	वाक्यपदीय
वृ०वा०	:	वृत्तिवार्तिक
वे०प०,आ०प०	:	वेदान्तपरिभाषा, आगमपरिच्छेद
वै०सू०	:	वैशेषिक सूत्र
शत०ब्रा०	:	शतपथ ब्राह्मण
श०श०प्र०	:	शब्दशक्तिप्रकाशिका
श्लो०वा०	:	श्लोकवार्तिक
श्वेता०	:	श्वेताश्वतर उपनिषद्
शा०भा०	:	शाबर भाष्य
शृ० प्र०	:	शृङ्गारप्रकाश
सा०द०	:	साहित्यदर्पण

प्रथम अध्याय

विषय प्रवेश

१.१. शब्दार्थविचार

१.१.१. शब्दतत्त्व

१.१.१.१. वैदिक वाङ्मय में शब्दतत्त्व

भारतीय चिन्तन परम्परा में भाषा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैदिक वाङ्मय में शब्दतत्त्व को "वाक्" से अभिहित किया गया है। प्राचीनतम वैदिक वाङ्मय ऋक्-संहिता में वाक् के महत्त्व को प्रतिपादित करने वाले अनेक सूक्त प्राप्त होते हैं। इसके अनन्तर उत्तरवैदिक वाङ्मय में भी वाक् से सम्बद्ध अनेक आख्यान मिलते हैं, जो वाक् के विभिन्न स्तरों का निर्देश करते हैं। ऋक्-संहिता में वाक् से साक्षात् सम्बद्ध तीन सूक्त प्राप्त होते हैं— प्रथम मण्डल का १६४ वाँ सूक्त, दशम मण्डल का ७१ वाँ एवं १२५ वाँ सूक्त। ये सूक्त क्रमशः अस्यवामीयसूक्त, वाचस्पति या बृहस्पतिसूक्त एवं वाक्सूक्त के नाम से जाने जाते हैं। इन तीन प्रमुख सूक्तों के अलावा ऋग्वेद के अन्यान्य सूक्तों में भी वाक् से सम्बन्धित कई ऋचाएँ प्राप्त होती हैं।

ऋग्वेद के अस्यवामीयसूक्त के कई मन्त्र वाक्-तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। इस सूक्त के २४ वें मन्त्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि देवताओं ने विभिन्न छन्दों के रूप में वाणी की प्रतिरचना की।[१] ३५ वें मन्त्र में यह इङ्गित किया गया है कि इस वेदरूप वाणी का अनन्त आकाश मन्त्र

पढ़ने वाला ब्राह्मण है, मन्त्र के प्रयोग का स्थान ही भुवन की नाभि हैं।[२] ४१ वें मन्त्र के अनुसार गौरवर्ण की सहस्राक्षरा वाणी ने आद्यसृष्टिरूप जल की सृष्टि की।[३] इस सूक्त के अनुसार वाक् चार प्रकार की है, जिसे केवल चिन्तनशील ब्राह्मण जानते हैं। प्रथम तीनों तो अव्यक्त हैं लेकिन चौथी व्यक्त है और उसे ही मनुष्य बोलते हैं।[४] एक मन्त्र में सरस्वती का आह्वान करते हुए ऋषि कहते हैं कि तुम्हारे (वाग्देवी) स्तन्य से ही विश्व पुष्ट होता है, उसका पान कल्याणकारी है, वह अनेक प्रकार के रत्नों का गुण धारण करने वाला है; उससे हमें आप्यायित करो।[५]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अस्यवामीय सूक्त में मन्त्र पढ़ने वाले को वाक् के परम व्योम के रूप में प्रतिष्ठापित करके वाक् का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। वाक् से आदिभूत समुद्र का उद्भव बताकर वाक् की आद्यसृष्टि के रूप में अवधारणा की गयी है तथा सहस्रपर्णा के रूप में वाक् के विस्तार की कल्पना द्वारा वाक् को विश्वचेतना के रूप में देखा गया है और अन्त में वाग्-रूप सरस्वती के शक्ति प्रवाह से शक्ति पाने की कामना की गयी है।

वाक् से सम्बद्ध ऋग्वेद का दूसरा महत्त्वपूर्ण सूक्त १० वें मण्डल का ७१ वाँ सूक्त है, जिसे बृहस्पतिसूक्त अथवा वाचस्पतिसूक्त के नाम से जाना जाता है। यह सूक्त कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि एक तो वैयाकरणों ने इसके दो मन्त्रों को बहुत बार उद्धृत किया है, दूसरा इस सूक्त में परिशुद्ध वाक् के महत्त्व के साथ-साथ समर्थ वाक् की अर्थगर्भता और वाक्-चिन्तन के द्वारा उत्तरोत्तर ज्ञान-गाम्भीर्य की सिद्धि-बतलायी गयी है। इस सूक्त के दूसरे मन्त्र में छान्दस् वाणी की परिशुद्धता में अभ्युदय की शक्ति का आधान किया गया है, क्योंकि यह शक्ति मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने वाली शक्ति है।[६] इस सूक्त के तृतीय मन्त्र के अनुसार ऋषियों के मन के भीतर प्रविष्ट वाणी को यज्ञ व्यापार ने बाहर प्रकाशित किया। उसका अनुसरण करने वालों ने उसमें विविध रूपान्तर किये और उसी की स्तुति में निरन्तर सात प्रकार के पक्षी-मनुष्य की ऊर्ध्वाकाङ्क्षाएँ कूजते है।[७] इस सूक्त के चौथे मन्त्र में वाणी में अन्तर्निहित

सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहा गया है कि कोई उसे देखता हुआ भी देख नहीं पाता, कोई उसे सुनता हुआ भी नहीं सुन पाता, जिस प्रकार सुवासा जाया अपने पति के सम्मुख अपना सम्पूर्ण स्वरूप प्रकट कर देती है उसी प्रकार वाणी जिसके सम्मुख अपना स्वरूप स्वतः उद्घाटित कर दे वही उसके अन्तर्निहित सौन्दर्य को परख सकता है।[८] इस सूक्त के एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि जो शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को ठीक-ठीक जानता है, उसी को वेदार्थ की साझेदारी मिलती है और जो नहीं जानता उसके लिए यह ज्ञानराशि एक जीती जागती गौ न रहकर माया जाल की गौ रह जाती है; जिसे वह खड़ा तो कर सकता है, किन्तु उससे दूध नहीं पा सकता।[९]

ऋग्वेद के १० वें मण्डल का १२५ वाँ सूक्त वाक्सूक्त के नाम से जाना जाता है। इस पूरे सूक्त में वाक् को प्रेरिका शक्ति के रूप में, सर्जिका शक्ति के रूप में, पालिका शक्ति के रूप में तथा संहारिका शक्ति के रूप में देखा गया है। आम्भृणि वाक् को इसका ऋषि माना गया है और परमात्मा को देवता। वाग्देवी का स्वयं कहना है कि मैं रुद्रों और वसुओं के साथ, आदित्यों एवं विश्वदेवों के साथ विचरण करती हूँ। मैं मित्र एवं वरुण दोनों को धारण करती हूँ। मैं इन्द्र एवं अग्नि को अवलम्बन देती हूँ। मैं ही अश्विनी कुमारों को सम्भालती हूँ।[१०] वाग्देवी कहती हैं कि मैं लोगों को जुटाने वाली हूँ। मैं समस्त सम्पत्तियों की अधीश्वरी हूँ।। मैं ही यज्ञ की ज्ञानसम्पदा हूँ। देवताओं ने मुझे विविध रूप देकर मेरे लिए विशाल और व्यापक आश्रय दिया है।[११] वाक्-सूक्त के एक मन्त्र में वाग्देवी अपने को विश्व का स्रष्टा बताते हुए कहती हैं कि मैंने ही आकाश की सृष्टि की है। मैं ही अव्यक्त सृष्टिरूप जल में निवास करती हूँ। मैं ही संसार में अधिष्ठित हूँ और अपने किरीट से आकाश को छूती हूँ।[१२] पुनः वाग्देवी कहती हैं कि समस्त भुवनों की रचना करते हुए मैं प्राणवायु की तरह बहती रहती हूँ। मेरी महिमा आकाश और पृथ्वी का अतिक्रमण करती रहती है।[१३]

इस प्रकार ऋग्वेद के उपर्युक्त तीन सूक्तों के अनेक मन्त्रों द्वारा वाक्

-तत्त्व के व्यापक स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इन सूक्तों के अलावा ऋग्वेद के कुछ और भी प्रकीर्ण सन्दर्भ हैं जिनसे वाक्-तत्त्व की व्यापकता का पता चलता है। पवमान मण्डल में वाक् का सोम की भार्या के रूप में वर्णन मिलता है।[१४] एक स्थान पर वाणी को देवताओं के द्वारा असुरों पर विजय का कारण बतलाया गया है।[१५] आठवें मण्डल के एक सूक्त में ऋषि का कहना है कि देवताओं ने ही दिव्य वाणी को उत्पन्न किया। उसे ही सभी प्रकार के पशु बोलते हैं। वह दिव्य वाक्-तत्त्व ऐश्वर्य और बल दोनों को देने वाला है। वह कामधेनु है। इस प्रकार की वाणी सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाली है।[१६] सम्पूर्ण लोक में एक ही वाक्-तत्त्व प्रतिभारूप में विद्यमान है और उसका अस्तित्व सार्वकालिक है। उस एक, सत्, नित्य और अक्षर तत्त्व का इन्द्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि अनेक रूपों में वेदों और समस्त शास्त्रों में वर्णन किया गया है।[१७]

यजुर्वेद में वाक्-तत्त्व के विभिन्न गुणों पर प्रकाश डाला गया है। यजुर्वेद का कथन है कि वाक्-तत्त्व समुद्र है। अर्थात् समुद्रवत् अक्षय भण्डार, अगाध और दुर्बोध है। यह सर्वव्यापक, अनादि, अक्षर और एक है। यह ऐन्द्र अर्थात् इन्द्र की शक्ति से सम्पन्न है। यह सभी वस्तुओं का आधारभूत तत्त्व है। इसी के कारण मनुष्य में सदस्यता, सभ्यता, शिष्टता आदि की स्थिति है। यह ऋततत्त्व का अर्थात् ब्रह्मतत्त्व का प्राण और अपान के रूप में द्वार है।[१८] वाक्-तत्त्व के प्रतिभारूप गुण का विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि यह चेतन, यज्ञीय, अविनाशी और द्विशिरस् है अर्थात् द्विविध गुणसम्पन्न है।[१९] यजुर्वेद में वाक्-तत्त्व को विश्वकर्मा ऋषि कहा गया है।[२०] शतपथ ब्राह्मण इसकी व्याख्या करते हुए कहता है कि वाक्-तत्त्व के द्वारा ही यह सबकुछ किया गया है अर्थात् वाक्-तत्त्व के द्वारा ही सारे संसार की सृष्टि हुई है।[२१]

वाक्-तत्त्व विषयक अनेक मन्त्र अथर्ववेद में भी प्राप्त होते हैं। इस वेद के नवें काण्ड के सातवें सूक्त में २६ मन्त्रों द्वारा वाक्-तत्त्व के विराट् स्वरूप का विस्तार से वर्णन किया गया है। शब्दतत्त्व के सम्बन्ध में अथर्ववेद का कथन है कि यह तीन पदों वाला है। यह शब्दब्रह्म रूपों को

धारण करके प्रतिष्ठित है। इसी से दिशाओं एवं उपदिशाओं में व्याप्त समस्त जगत् जीवित है।[२२] इस वेद में वाक्-तत्त्व को विद्युत बतलाते हुए कहा गया है कि यही द्युलोक और पृथ्वी में शक्ति का आधान करता है, इसी से समस्त पशुओं में जीवनशक्ति है और यही बल तथा अन्न को परिपुष्ट करता है।[२३] अथर्ववेद के अनुसार वाक्-तत्त्व परमेष्ठी प्रजापति का रूप है। इसी के द्वारा शान्त और घोर अर्थात् दैवी और आसुरी समस्त सृष्टि होती है।[२४]

ब्राह्मण ग्रन्थों ने वाक्-तत्त्व को ब्रह्म बतलाकर उसकी विविध प्रकार से व्याख्या की है। ऐतरेय, तैत्तिरीय, शतपथ, षड्विंश एवं गोपथ आदि ब्राह्मणग्रन्थों में वाक् को ब्रह्म कहा गया है। ऐतरेय एवं शतपथ के अनुसार वाक् ही ब्रह्म है।[२५] ऐतरेय ब्राह्मण ने वाक्-तत्त्व को दो भागों में रखकर कहा है कि वाक् ब्रह्म और सुब्रह्म दोनों है, इसलिए उसको सुब्रह्मण्य नाम दिया गया है।[२६] तैत्तिरीय ब्राह्मण का कथन है कि ब्रह्म ही वाक्-तत्त्व का परमतत्त्व है।[२७] जैमिनि ब्राह्मण के अनुसार जिसको हम वाक् कहते हैं, वह ब्रह्म ही है।[२८] गोपथ ब्रह्मण ने भी वाक्-तत्त्व को ब्रह्म कहा है।[२९]

उपनिषदों में वाक्-तत्त्व के स्वरूप का व्यापक वर्णन मिलता है। बृहदारण्यक उपनिषद् ने वेदों के मन्तव्य को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि वाक्-तत्त्व ही सृष्टि का सम्राट् है, वही परब्रह्म है।[३०] इस उपनिषद् में विद्युततत्त्व, वायुतत्त्व आदि को वाक्-तत्त्व ही बताते हुए कहा गया है कि जो विद्यतु रूप में चमकता है और गरजता है, जो वायु रूप में प्रवाहित होता है, जो मेघ रूप में बरसता है, उनमें वाक् की ही शक्ति है, यह सब वाक्-शक्ति का ही परिणाम है।[३१] श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनुसार सृष्टि में दो अक्षर हैं, वे ब्रह्मपरक हैं, अनन्त हैं, जिनमें विद्या और अविद्या दोनों ही निहित है। क्षर अंश का नाम अविद्या है और अक्षर अमृत अंश का नाम विद्या है। जो इन दोनों विद्या और अविद्या को वश में किये हुए है, वही वाक्-तत्त्व है तथा वह इनसे पृथक है।[३२] कैवल्योपनिषद् के अनुसार वाक्-तत्त्व ही ब्रह्म कहलाता है। वही शिव, अक्षर, परम स्वराट्, विष्णु, प्राण, काल, अग्नि और चन्द्रमा आदि नामों से अभिहित

क़िया जाता है। वर्तमान, भूत और भविष्यत् में जो कुछ भी है, वह अक्षरतत्त्व ही है।[३३] इस उपनिषद् के कथनानुसार वाक्-तत्त्व से ही सबकुछ उत्पन्न होता है और उसी में स्थित तथा प्रतिष्ठित रहते हुए अन्त में सबकुछ उसी में लीन हो जाता है।[३४]

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों से लेकर उपनिषदों तक के वैदिक वाङ्मय में वाक्-तत्त्व की व्यापकता पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है, जिसका उपर्युक्त विवेचन के माध्यम से विस्तारभयात् दिग्दर्शनमात्र किया गया है।

१.१.१.२ व्याकरणशास्त्र अभिमत शब्दतत्त्व

शब्द एवं अर्थ के स्वरूप का निर्धारण व्याकरणशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य है। वैयाकरणों ने वेदों एवं उपनिषदों में प्रतिपादित शब्दब्रह्मविषयक अवधारणा को और अधिक स्पष्ट किया है। वेदादि में शब्दार्थविषयक जो निरूपण मिलता है, वह एकत्र और दार्शनिक विवेचन के रूप में संगृहीत नहीं मिलता है। वैयाकरणों ने उन शब्द और अर्थ सम्बन्धी तथ्यों को एकत्र करके दार्शनिक विवेचन द्वारा उसे स्पष्ट किया है। पतञ्जलि ने जिसको दार्शनिक रूप दिया, उसको भर्तृहरि ने और तदनन्तर हेलाराज, नागेशादि ने अपने विशद विवेचन द्वारा व्याकरणदर्शन के पद पर प्रतिष्ठापित किया है।

महर्षि पतञ्जलि ने शब्दानुशासन को ही व्याकरण का विषय बतलाया है। इन्होंने महाभाष्य के पस्पशाह्निक का प्रारम्भ ही शब्दविचार से किया है। शब्द क्या है, उसका स्वरूप क्या है, वह नित्य है अथवा अनित्य इन सब विषयों का विशद विवेचन पस्पशाह्निक के प्रारम्भ में किया गया है। पतञ्जलि ने शब्दविषयक अपना मन्तव्य स्पष्ट करने के लिए प्रश्न उठाया है कि "गौ" यह जो ज्ञान होता है, इसमें प्रतीत होने वाली वस्तुओं में शब्द क्या है? पतञ्जलि अपने प्रश्न के द्वारा यह बतलाना चाहते हैं कि शब्द और द्रव्य आदि में भेद होता है। शब्द द्रव्यादि से भिन्न है। इसी को वे प्रश्नोत्तर के माध्यम से स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि, क्या शब्द सास्ना, लाङ्गूल,

कुकुद, खुर आदि से युक्त वस्तु है? नहीं, वह तो द्रव्य है। तो क्या जो सङ्केत करना, चेष्टा करना तथा आँख का झपकना आदि है, वह शब्द है? नहीं वह तो क्रिया है। तो क्या जो शुक्ल, नील, कपिल, कपोत है, वह शब्द है? नहीं, वह तो गुण है। तो फिर क्या जो भिन्न-भिन्न पदार्थों में एकरूप है और जो उनके नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता तथा सबमें साधारण, अनुगत होता है वह शब्द है? नहीं, वह तो जाति है।

शब्द है क्या, इसका उत्तर देते हुए पतञ्जलि कहते हैं कि जो **उच्चरित ध्वनियों से अभिव्यक्त होकर गलकम्बल, पूँछ, कुहान, खुर, शृङ्ग वाले गो व्यक्ति का बोध होता है, वह शब्द कहलाता है।**[३५] कैयट और नागेश ने पतञ्जलि के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि वह सत्ता जिसको शब्द कहते हैं और जिसके द्वारा अर्थबोध होता है, वह स्फोट है। स्फोट नित्य होता है तथा ध्वनि के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है। पदरूप स्फोट या वाक्यरूप स्फोट को वैयाकरण वाचक मानते हैं। स्फोटात्मक शब्द की विस्तृत व्याख्या भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में किया है।[३६] पतञ्जलि स्फोट के अतिरिक्त ध्वनि को भी शब्द कहते हैं, जिससे अर्थ की प्रतीति होती है। लोकव्यवहार में जिस ध्वनि से अर्थ का बोध होता है, वह शब्द कहलाता है। जैसे कि ध्वनि करते हुए लड़के को उद्देश्य करके कहा जाता है— शब्द करो, शब्द मत करो, यह लड़का शब्दकारी है। अतः ध्वनि शब्द है।[३७] कैयट और नागेश के अनुसार पतञ्जलि स्फोट और ध्वनि को भिन्न मानते हैं तथापि यहाँ पर दोनों को शब्द कहने का अभिप्राय है कि द्रव्य, गुण, क्रिया आदि शब्द नहीं है। शब्द इनसे भिन्न है। उसे शास्त्रीय दृष्टि से स्फोट कहते हैं और लौकिक दृष्टि से ध्वनि। यदि पतञ्जलि के शब्दविषयक मत को संक्षेप में कहा जाय तो उनके अनुसार शब्द के दो स्वरूप होते हैं— एक स्फोट और दूसरा ध्वनि। इसमें स्फोट रूप शब्द नित्य है, उसमें अल्पता, महत्ता आदि की स्थिति नहीं होती जबकि ध्वनिरूप शब्द अनित्य है एवं स्फोटरूप शब्द का व्यञ्जक है। स्फोट और ध्वनि में ध्वनि को ही हम अल्प या महान् रूप में देख पाते हैं। मनुष्यों में स्फोट और ध्वनि दोनों का ग्रहण होता है, अर्थात् मनुष्य जो शब्द बोलते हैं, वह

वर्णात्मक होने के कारण ध्वनि के साथ ही स्फोट का भी बोध कराते हैं; अतएव अर्थज्ञान होता है, जबकि पशु-पक्षी आदि में केवल ध्वनि का ग्रहण होता है।[३८] आचार्य भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड में शब्दतत्त्व का विशद विवेचन किया है। वे अपने ग्रन्थ का प्रारम्भ ही शब्दतत्त्व के वर्णन से करते हुए कहते हैं कि शब्दब्रह्म आदि और अन्त से रहित है; अक्षर है, उसका ही अर्थ के रूप में विवर्त होता है, जिससे संसार का व्यावहारिक क्रियाकलाप सम्पन्न होता है।[३९] भर्तृहरि का कथन है कि शास्त्रज्ञों का मत है कि यह संसार शब्द का ही परिणाम स्वरूप है। सृष्टि के आदि में यह विश्व छन्दोमयी वाणी से ही विकसित हुआ है।[४०]

भर्तृहरि शब्द की तीन अवस्थाओं को मानते हैं— पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। नागेश ने जिसको चतुर्थ अवस्था अर्थात् परा नाम दिया है, उसको भर्तृहरि तृतीय अवस्था अर्थात् पश्यन्ती अवस्था मानते हैं; उसी से संसार की सृष्टि होती है।[४१] भर्तृहरि के अनुसार शब्दों के द्वारा ही समस्त भावों की अभिव्यक्ति की जाती है। असमाख्येय षड्जादि स्वरों एवं समाख्येय गौ आदि अर्थों का भी शब्दों से ही निरूपण किया जाता है। अतएव समस्त अर्थों का आधार शब्द ही है।[४२] उनके अनुसार संसार में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है, जो शब्दज्ञान के बिना हो। समस्त ज्ञान शब्द के साथ संसृष्ट सा प्रतीत होता है।[४३]

आचार्य भर्तृहरि वाक्-शक्ति की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि ज्ञान में प्रकाशशीलता अर्थात् बोधक शक्ति तभी तक है, जबतक कि उसमें वाक्-शक्ति विद्यमान है। यदि ज्ञान में नित्य रूप से रहने वाली वाक्-शक्ति कदाचित उत्क्रान्त हो जाय, नष्ट हो जाय या न मानी जाय तो ज्ञान; ज्ञान ही नहीं रह जायेगा। प्रकाश का अपना जो स्वकीय प्रकाशनाख्य व्यापार है वह वाग्रूपता के न रहने पर नहीं होगा, क्योंकि वह वाग्रूपता ही वस्तु का निरूपण करने वाली है।[४४] इस प्रकार भर्तृहरि ने शब्दतत्त्व के स्वरूप का प्रतिपादन कर वाक्यपदीय के अनेक कारिकाओं द्वारा शब्द की महत्ता का प्रतिपादन किया है।

१.१.१.३ न्यायवैशेषिक अभिमत शब्दतत्त्व

न्यायदर्शन के अनुसार शब्द आकाश का गुण है और अनित्य है। गौतम का कथन है कि शब्द का उत्पत्ति और विनाश होता है; अत: शब्द अनित्य है। न्यायभाष्यकार आचार्य वात्स्यायन, वार्तिककार उद्योतकर तथा न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट ने अनेक युक्तियों के आधार पर शब्द की अनित्यता का प्रतिपादन किया है। नैयायिकों के अनुसार कण्ठ, तालु आदि अवयवों के संस्पर्श या आघात से शब्द उत्पन्न होता है। वैशेषिक दर्शन में भी शब्द को आकाश का गुण एवं अनित्य माना गया है। महर्षि कणाद के अनुसार, जो श्रोत्र के द्वारा ग्राह्य हो वह शब्द कहलाता है।[४५] शब्द के इस लक्षण को और स्पष्ट करते हुए आचार्य प्रशस्तपाद कहते हैं कि शब्द आकाश का गुण है। वह क्षणिक है एवं उसके कार्य और उसके कारण दोनों ही उसके विरोधी हैं। संयोग, विभाग और शब्द इन तीनों में से किसी एक से उसकी उत्पत्ति होती है। वह अपने आश्रय के किसी एक अंश में रहता है तथा अपने सजातीय (शब्द) और विजातीय (संयोग-विभाग) से उत्पन्न होता है।[४६] न्यायवैशेषिक दर्शन में शब्द के दो प्रकार बतलाये गये हैं— वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक। जिस शब्द को सुनकर अर्थावगति होती है, वह वर्णात्मक शब्द होता है तथा जिसको सुनकर अर्थावगति नहीं होती है, वह ध्वन्यात्मक शब्द कहलाता है। जैसे भेरी आदि के शब्द।[४७] वर्णात्मक शब्द की उत्पत्ति प्रक्रिया को बतलाते हुए आचार्य प्रशस्तपाद कहते हैं कि इसकी उत्पत्ति आत्मा और मन के संयोग से स्मृति की सहायता तथा वर्ण के उच्चारण की इच्छा से होती है। उस इच्छा से तदनुकूल प्रयत्न की उत्पत्ति होती है तथा उस प्रयत्न के द्वारा आत्मा एवं वायु के संयोग से वायु में क्रिया उत्पन्न होती है। यह सक्रिय वायु ऊपर की तरफ जाते समय कण्ठ में अभिघात को उत्पन्न करती है। इसके बाद कण्ठादि स्थान और वायु का संयोग एवं कण्ठादि स्थान और आकाश के संयोग इन दोनों संयोगों से वर्णात्मक शब्द की उत्पत्ति होती है।[४८] ध्वन्यात्मक शब्द की उत्पत्ति भेरी और दण्ड के संयोग तथा भेरी और आकाश का संयोग इन दोनों से

होती है। इसी प्रकार बांस और उसकी सन्धि के विभाग तथा बांस और आकाश के विभाग से भी शब्द की उत्पत्ति होती है। शब्द से भी शब्द की उत्पत्ति होती है जिसका विस्तार वीचीतरङ्ग एवं कदम्बगोलक न्याय से होता है।[४९] इस प्रकार उत्पत्ति की दृष्टि से वैशेषिकों ने शब्द के तीन प्रकारों का उल्लेख किया है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में मीमांसकों के शब्द के नित्यत्व सम्बन्धी सिद्धान्त का खण्डन करके शब्द की अनित्यता का प्रतिपादन किया गया है। वैशेषिक दर्शन के अनुसार शब्द तो कण्ठाताल्वाद्यभिघात के द्वारा उत्पन्न होता है, अतः वह अनित्य है। यदि कण्ठताल्वाद्यभिघात से पहले शब्द की सत्ता होती तो उसे नित्य माना जा सकता था, परन्तु उससे पहले उसकी सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है। अतः शब्द कार्य ही सिद्ध होता है, न कि व्यङ्ग्य या नित्य।[५०]

१.१.१.४ मीमांसा अभिमत शब्दतत्त्व

मीमांसकों के मत में वर्ण ही शब्द है। सभी देश एवं सभी काल में गकार आदि वर्ण एक ही हैं, भिन्न-भिन्न नहीं हैं। अतएव गत्व, अत्व आदि जाति भी इनके मत में स्वीकृत नहीं है। कारण यह है कि जाति अनेक में समवाय सम्बन्ध से रहने पर सिद्ध होती है। वर्ण नित्य हैं, उनका कारण भूत कोई अवयव नहीं होता। जिस प्रकार घट के कपालादि अवयव होते हैं, उस प्रकार वर्णों के अवयव नहीं होते। इसी प्रकार "गो" इत्यादि शब्दरूप अवयवी भी नहीं है। वर्णों से अतिरिक्त समुदाय भी मीमांसकों के अनुसार स्वीकृत नहीं है। अतः इनके अनुसार गकारादि वर्ण ही शब्द हैं, ये नित्य तथा विभु हैं। भाष्यकार शबर स्वामी ने "गौ" इस प्रतीति में शब्द कौन है? ऐसा प्रश्न करते हुए महर्षि उपवर्षका नामोल्लेख करके गकार, औकार और विसर्जनीय आदि रूप वर्णों को शब्द कहा है।[५१] शबर स्वामी के अनुसार लोक में श्रोत्र इन्द्रिय से गृहीत होने वाले अर्थ में शब्द-शब्द का प्रयोग देखा जाता है और गकार, औकार एवं विसर्ग श्रोत से गृहीत होते हैं। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध

हो जाता है कि गकारादि वर्ण ही शब्द है।[५२] वैयाकरण स्फोटात्मक शब्द को नित्य मानते हैं, अत: वे मीमांसकों के इस शब्द विषयक सिद्धान्त पर आक्षेप करते हुए कहते हैं कि शब्द का वर्णात्मक रूप तो कार्यमात्र है, शब्द का मूलरूप नहीं। यदि शब्द वर्णात्मक है तब तो उससे अर्थ भी नहीं हो सकता, क्योंकि एक-एक अक्षर के ज्ञान से शब्दार्थ की साक्षात् उपलब्धि नहीं होती। इन अवयवभूत वर्णों के अतिरिक्त आपके सिद्धान्त में कोई अवयवी या समुदाय भी नहीं है जिससे अर्थ का बोध हो सके। चूँकि वर्ण भिन्न-भिन्न कालों में उत्पन्न होते हैं, अत: उनसे अर्थ की कल्पना नहीं हो सकती। इसलिए गकारादि वर्णों से भिन्न कोई गो-शब्द है जो अर्थ का बोध कराता है— इसी समुदायरूप को हम स्फोट कहते हैं। यदि आप (मीमांसक) स्मृति का आश्रय लेकर कहें कि शब्द के अन्तर्हित हो जाने के बाद भी पूर्ववर्णों के स्मरण से अर्थबोध होगा तो यह भी युक्ति ठीक नहीं है, क्योंकि स्मृति स्वयं क्षणिक है, अक्षरों के समान ही उसकी भी गति है।

वैयाकरणों के उपर्युक्त आक्षेप का उत्तर देते हुए भाष्यकार शबर स्वामी कहते हैं कि प्रत्येक वर्ण अपने उच्चारण के बाद अपना संस्कार छोड़ जाता है और समस्त पूर्ववर्ती वर्णों से उत्पन्न संस्कारों के साथ अन्तिम वर्ण ही अर्थ का बोधक होता है।[५३] लोकव्यवहार में समुदाय-रूप शब्द अपने अवयवभूत वर्णों से भिन्न नहीं देखा जाता। अत: अक्षरों से शब्द को भिन्न मानने का वैयाकरणों का प्रस्ताव ठीक नहीं लगता। अक्षरों से संस्कार होते हैं, संस्कारों से अर्थबोध होता है— इस प्रकार अर्थबोध में भी अक्षर ही तो निमित्त होते हैं।[५४] प्रत्यक्षत: गकारादि वर्णों से "गौ:" शब्द का भेद नहीं मिलता, अपितु अभेद ही मिलता है। "गौ:" में गकारादि विसर्गान्त पद जिसे मानते हैं, वह अक्षरों का ही दूसरा नाम है। अत: शबर स्वामी का निष्कर्ष है कि अक्षर ही शब्द हैं।[५५]

१.१.१.५. साहित्यशास्त्र अभिमत शब्दतत्त्व

वैयाकरणों के समान काव्यशास्त्रियों ने भी शब्दतत्त्व के पारमार्थिक

स्वरूप की व्याख्या की है। नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरत शब्दतत्त्व के पारमार्थिक स्वरूप से पूर्णतः अवगत थे। उनके अनुसार वाणी ही सबका कारण है। वाणी से परे कुछ भी नहीं है। वाचिक अभिनय की व्याख्या में नाट्यशास्त्र में आचार्य भरत ने लिखा है कि यहाँ विद्यमान सभी शास्त्र वाणी से ओतप्रोत हैं; वाङ्मय हैं तथा वाणी पर ही आश्रित हैं। इसलिए वाणी से परे कुछ भी नहीं है। वाक्-तत्त्व ही सबका कारण है।[५६] भामह ने शब्द को परिभाषित करते हुए लिखा है कि अर्थ की प्रतीति के लिए उच्चरित अकारादि वर्णों का सार्थक समुदाय शब्द कहलाता है।[५७] आचार्य भामह ने शब्द को नित्य अविनाशी तथा उसे ध्वनि से भिन्न तो माना है, परन्तु सत्तात्मक अर्थ से शब्द का नित्य सम्बन्ध है अथवा अनित्य इस विषय पर कोई विचार नहीं किया है।[५८] उन्होंने द्रव्य, क्रिया, जाति और गुण के भेद से शब्द के चार प्रकार बतलाये हैं।[५९] भामह के शब्दसम्बन्धी लक्षण पर आपत्ति जताते हुए, वैयाकरण स्फोटवाद को स्थापित करते हैं किन्तु भामह अनेक तर्कों के द्वारा स्फोटवाद का खण्डन कर कहते हैं कि यह तो पहले ही सङ्केतित अर्थात् ईश्वर द्वारा निश्चय हो चुका है कि इतने और ऐसे वर्ण ऐसे अर्थ का बोध करायेंगे।[६०] आचार्य दण्डी समस्त लोकव्यवहार को शब्द के ही अधीन मानते हैं। उनके अनुसार शिष्टों द्वारा अनुशासित अथवा अननुशासित वाणी की सहायता से ही लोकव्यवहार प्रवृत्त होता है। इन्होंने साधु तथा असाधु समस्त शब्दों को वाचक माना है।[६१] उन्होंने शब्द द्वारा ही लोकसिद्धि को प्रतिपादित करते हुए काव्यादर्श में कहा है कि यदि शब्दस्वरूप ज्योति सारे संसार में प्रदीप्त न हो तो यह त्रिभुवन अन्धकारमय हो जाय। शब्द के प्रकाश से ही सम्पूर्ण लोक आलोकित होता है।[६२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोकव्यवहार के लिए शब्द की कितनी उपयोगिता है। भारतीय परम्परा में शब्द का फलक बहुत व्यापक स्तर पर स्वीकार किया गया है। ऋग्वेद से लेकर अद्यावधिपर्यन्त शास्त्रों के अध्ययन से यही प्रतिफलित होता है कि यदि सम्पूर्ण सृष्टि से वाक्-तत्त्व को निकाल दिया जाय तो निस्सन्देह सृष्टि की रचना निरुद्देश्य ही प्रतीत होगी।

१.१.२. अर्थतत्त्व

१.१.२.१. अर्थ का स्वरूप

लोकव्यवहार में समस्त शब्दों का प्रयोग अर्थावबोध के लिए ही होता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार शब्द का प्रयोग अर्थावगति के लिए किया जाता है। शब्द का प्रयोजन ही अर्थज्ञान है। अर्थ का सम्प्रत्यय करूँगा इस प्रतिज्ञा में शब्द का प्रयोग होता है; यही शब्द की व्यावहारिकता एवं उपयोगिता है।[६३] कुमारिल भट्ट ने भी शब्द की इसी उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए कहा है कि अर्थप्रत्यायन के लिए ही सभी शब्दों का प्रयोग होता है।[६४]

पतञ्जलि कहते हैं कि जिस अर्थज्ञान के लिए शब्द का प्रयोग होता है, वही उस शब्द का अर्थ होता है।[६५] उनके अनुसार अर्थ शब्द से पृथक नहीं है। शब्द और अर्थ अभिन्न हैं। अर्थ शब्द की ही अन्तरङ्ग शक्ति है। अतएव वे कहते हैं कि शब्द शब्द से बहिर्भूत है, किन्तु अर्थ अबहिर्भूत अर्थात् अपृथक् है।[६६] **स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा**[६७] सूत्र की व्याख्या में पतञ्जलि कहते हैं कि अर्थ दो प्रकार का होता है; एक शब्द का अपना स्वरूप एवं दूसरा बाह्य वस्तु या बोध्य पदार्थ। व्याकरणशास्त्र में शब्द अपने स्वरूप का ही बोध कराते हैं। यथा— **अग्नेर्ढक्**[६८] सूत्र में पठित अग्नि शब्द भौतिक अग्नि का बोध नहीं कराता है, अपितु अग्नि शब्द को बोधित करता है परन्तु लोकव्यवहार में अग्नि शब्द के प्रयोग से बाह्य वस्तु अर्थात् अग्नि नामक पदार्थ का बोध होता है। गाय लाओ, दही खाओ, में उच्चरित शब्द से पदार्थ लाया जाता है और पदार्थ खाया जाता है।[६९] इस प्रकार पतञ्जलि कहते हैं कि अर्थज्ञान शब्द के द्वारा ही होता है। जब कोई शब्द सुना जाता है, तब वह प्रथम अपने स्वरूप का बोध कराता है तदनन्तर अर्थ का। जब शब्द स्पष्ट रूप से नहीं सुना गया होता है तो वह अर्थ का बोध नहीं कराता है।

अर्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्य भर्तृहरि एवं पुण्यराज ने यह मन्तव्य व्यक्त किया है कि वक्ता जिस रूप में किसी शब्द के अर्थ का

निरूपण करता है, वही उस शब्द के अर्थ का स्वरूप बन जाता है। तात्पर्य यह है कि शब्दार्थ के स्वरूप का निर्धारण प्रयोग से होता है। एक वक्ता शब्द का एक रूप में प्रयोग कर एक अर्थ व्यक्त करता है, दूसरा वक्ता उसी शब्द का दूसरे रूप में प्रयोग कर दूसरा अर्थ व्यक्त कर सकता है। अतः अर्थ का कोई एक निश्चित स्वरूप नहीं होता है।[८०] भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड में अर्थ से सम्बन्धित प्राचीन समय में वर्तमान १२ मतों का विशद विवेचन किया है। इनमें अर्थ के विभिन्न अङ्गों पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। इसे साररूप में डॉ० शोभाकान्त मिश्र ने अपनी पुस्तक में निम्न प्रकार से उल्लेख किया है[८१]—

- शब्द से आकारहीन अर्थतत्त्व का बोध होता है। आकार उस अर्थतत्त्व से अविनाभाव सम्बन्ध से जुड़ा रहता है। अतः आकार-विशेष की भी प्रतीति शब्द से हो जाती है।
- अर्थ साकार होता है। कुछ आकारों का बोध शब्द कराता है और कुछ आकारों का बोध उसके साथ अविनाभाव सम्बन्ध के कारण होता है। ये दो मत परस्पर विरोधी हैं।
- शब्द समग्र विशेषताओं से युक्त अर्थ का बोध नहीं कराता। जातिमात्र का बोध शब्द से होता है। अतः अर्थ का स्वरूप अनिश्चित और अपूर्ण होता है।
- सभी आकार से युक्त जाति, शब्द का अर्थ है। जाति और व्यक्ति की परस्पर सापेक्ष सत्ता होने के कारण व्यक्तिविशिष्ट जाति या जातिविशिष्ट व्यक्ति शब्द का अर्थ है।
- अवयवांतिरिक्त अवयवी शब्द का अर्थ है। अवयव समुच्चय या उसका विकल्प शब्दार्थ नहीं, केवल अवयवी शब्दार्थ होता है।
- शब्द का अर्थ असत्य संसर्गरूप है। असत्य और अनित्य जाति, द्रव्य आदि के सम्बन्ध के कारण शब्दार्थ को अनित्य माना गया है। अनित्य जाति आदि के साथ सम्बन्ध ही शब्दार्थ का स्वरूप है। अतः शब्द का अर्थ संसर्ग-रूप और अनित्य

माना गया है। अर्थ को असत्याभास सत्य भी कहा गया है। अर्थ तत्त्वतः सत्य है, परन्तु असत्य वस्तु के साथ संसर्ग के कारण असत्य प्रतीत होता है।

- अर्थ शब्द से अभिन्न रूप है। शब्द ही अध्यास-रूप को प्राप्त कर अपने स्वरूप का बोध कराता है। पदार्थ का स्वरूप अध्यास से आच्छादित होकर शब्द से अभिन्नतया बोध का विषय बनता है। इस बोध में शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध की अभेद प्रतीति हुआ करती है। अतः शब्द के स्वरूप को ही अर्थ का स्वरूप माना गया है।
- अर्थ शब्द में निहित शक्ति से उपस्थापित तत्त्व है। शब्द जिस रूप में अर्थ का बोध कराता है, वही अर्थ का स्वरूप होता है। इस प्रकार अर्थ अपनी अभिव्यक्ति के लिए शब्द पर निर्भर रहता है। वह अपनी अभिव्यक्ति में स्वयं असमर्थ है। अतः उसे असर्वशक्तिमान् माना गया है। अर्थ की सत्ता शब्द के अधीन होने के कारण विवक्षानुरूप वह परिवर्तित होता रहता है। अतः उसे निरात्मक और असत्य भी कहा गया है।
- उक्त मत के विपरीत एक मत में अर्थ को सर्वशक्तिमान्, सर्वात्मा तथा सत्य माना गया है। जो कुछ बोध्य है, वह सब अर्थ है। शब्द नियत शक्ति का बोध कराता है। अर्थ बोध्य होने से यह शक्ति रखता है कि वह सभी शब्दों से बोध्य हो सके। अतः अर्थ नित्य और सर्वशक्तिमान् है।
- अर्थ बुद्धिगत विकल्प-रूप या बोधरूप है। उससे सम्बन्ध के कारण ही शब्द से बाह्य वस्तु का भी बोध हो जाता है, पर बाह्य वस्तु शब्द का अर्थ नहीं है।
- एक मत में अर्थ को बुद्धिगत और बाह्य दोनों माना गया है। कुछ शब्दों से बोधगम्य अर्थ आकार-विशेष से युक्त होता है और लोकसिद्ध बाह्य वस्तु की स्मृति दिलाता है; पर कुछ शब्दों से आकारहीन बोधगत अर्थ की ही उपलब्धि होती है।

- अन्तिम मत में शब्द के अर्थ को अनियत रूप वाला माना गया है। किसी शब्द का कोई एक निश्चित अर्थ नहीं होता। हर व्यक्ति अपनी अपनी वासना के अनुरूप अर्थ को ग्रहण करता है। व्यक्ति के संस्कार के अनुरूप शब्द का अर्थ बदलता रहता है। अतः शब्दार्थ का स्वरूप अस्थिर या अनिश्चित माना गया है।

इस प्रकार भर्तृहरि के द्वारा विवेचित १२ मतों पर विचार करने पर एक बात मुख्य रूप से सामने आती है कि शब्द में अर्थ शक्ति या सङ्केत के रूप में रहा करता है, इसे सभी विचारकों ने किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है, लेकिन सङ्केत के विषय को लेकर विचारकों में मतवैभिन्न्य है, जिस पर इस शोधग्रन्थ में आगे विचार किया जायेगा।

१.१.२.२ अर्थ का लक्षण

वार्तिकार कात्यायन और महाभाष्यकार पतञ्जलि अर्थ का लक्षण करते हुए कहते हैं— "**सर्वे भावाः स्वेन भावेन भवन्ति, स तेषां भावः। किमेभिस्त्रिभिर्भावग्रहणैः क्रियते? एकेन शब्दः प्रतिनिर्दिश्यते द्वाभ्यामर्थः। यद्वा सर्वे शब्दाः स्वेनार्थेन भवन्ति स तेषामर्थः।**"[७२] कात्यायन ने अर्थ के लक्षण में "भाव" शब्द का तीन बार प्रयोग किया है। उसका स्पष्टीकरण करते हुए पतञ्जलि कहते हैं कि प्रथम भाव शब्द का अर्थ है— शब्द और अन्य दोनों भाव-शब्दों का अर्थ है— अर्थ। अतः अर्थ का लक्षण इस प्रकार होता है कि समस्त शब्द स्व-स्व अर्थबोधन के लिए होते हैं, जिस-जिस अर्थ के बोध के लिए शब्द का प्रयोग होता है, वही उसका अर्थ है। कैयट और नागेश पतञ्जलि के भाष्य की व्याख्या करते हुए अर्थ का लक्षण करते हैं कि समस्त शब्द जिस प्रवृत्ति निमित्त से अर्थात् जिस वाच्य अर्थ के बोधन के लिए प्रयुक्त होते हैं, वही प्रवृत्ति निमित्त रूप अर्थ उन शब्दों का अर्थ होता है।[७३] आचार्य भर्तृहरि के अनुसार "जिस शब्द के उच्चारण से जिस अर्थ की प्रतीति होती है, वह उसका अर्थ है।"[७४] जयन्त भट्ट के अनुसार कोई मानते हैं कि यह इस पद का अर्थ है, अर्थात् अर्थ साङ्केतिक

है, जिस शब्द से जिस अर्थ का सङ्केत किया जाता है, वह उसका अर्थ है। दूसरा लक्षण यह है कि जिस शब्द से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वही उसका अर्थ है।[७५] कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्तिक के वाक्याधिकरण में अर्थ का लक्षण करते हुए कहा है कि जो अर्थ जिस शब्द के साथ सम्बद्ध रहता है, वह उसका अर्थ है अर्थात् शब्द का वह अर्थ होता है जो उसके साथ सदैव विद्यमान रहता है।[७६]

१.१.२.३. सङ्केतग्रह का विषय

शब्दार्थ के विषय में अर्थ मुख्य रूप से शब्द में ही विद्यमान रहता है अर्थात् प्रत्येक शब्द में उसका अर्थ सङ्केतित रहता है, यह सभी विचारकों को मान्य है, परन्तु अर्थ का सङ्केतित विषय क्या है, इसे लेकर वैयाकरणों, मीमांसकों, नैयायिकों एवं बौद्धों में पर्याप्त वैमत्य दृष्टिगोचर होता है। सङ्केत का विषय जहाँ वैयाकरण व्यक्ति के उपाधिभूत जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा रूप धर्मों को बतलाते हैं, वही मीमांसक केवल जाति में सङ्केतग्रह स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में नैयायिक सङ्केत का विषय जातिविशिष्ट आकृति एवं व्यक्ति को बतलाते हुए दिखलायी देते हैं, जबकि बौद्ध दार्शनिक इन सब से भिन्न अपोह में अर्थ का सङ्केत निर्धारित करते हैं। सङ्केतग्रह के विषय में काव्यशास्त्री वैयाकरणों का अनुसरण करते हुए प्रतीत होते हैं, अर्थात् सङ्केतग्रह का विषय व्यक्ति के उपाधिभूत जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा रूप धर्म उन्हें भी मान्य हैं। सङ्केतग्रह विषयक विभिन्न मतों का विवेचन आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में "सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा"[७७] कहकर किया है। सङ्केतग्रह विषयक इन विविध मतों को संक्षेप में निम्न प्रकार से देखा जा सकता है—

सङ्केतग्रह विषयक विविध मत

वैयाकरणों एवं आलङ्कारिकों का मत

आचार्य मम्मट ने "संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा" नामक

कारिका के पूर्वार्ध भाग अर्थात् जात्यादि के द्वारा संकेतग्रह के विषय में अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। मम्मट के अनुसार यद्यपि साधारण रूप से व्यवहार किसी व्यक्ति में ही होता है, इसलिए सङ्केतग्रह व्यक्ति में ही होना चाहिए परन्तु व्यक्ति में संङ्केतग्रह मानने में आनन्त्य एवं व्यभिचार दो प्रकार के दोषों की प्रवृत्ति रहती है। जिस शब्द का जिस अर्थ में सङ्केतग्रह होता है। उस शब्द से उसी अर्थ की प्रतीति होती है। बिना सङ्केतग्रह के अर्थ की प्रतीति नहीं होती। इसलिए यदि व्यक्ति में सङ्केतग्रह माना जाय तो जिस व्यक्ति विशेष में सङ्केतग्रह हुआ है, उस शब्द से उस व्यक्ति विशेष की उपस्थिति होगी। अन्य व्यक्तियों की प्रतीति के लिए प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग सङ्केतग्रह मानना आवश्यक होगा। इस दशा में एक गोशब्द से प्रतोत होने वाली सभी गोव्यक्तियों में अलग-अलग सङ्केतग्रह मानने में अनन्त शक्तियों की कल्पना करनी पड़ेगी, जिससे आनन्त्य दोष उत्पन्न हो जायेगा। यदि आनन्त्यदोष से बचने के लिए यह कहा जाय की दो चार व्यक्तियों में व्यवहार से सङ्केतग्रह हो जाता है, शेष व्यक्तियों का बोध बिना सङ्केतग्रह के ही होता रहता है तो व्यभिचार दोष उत्पन्न हो जायेगा। इसलिए व्यक्ति में सङ्केतग्रह मानना सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह है कि महाभाष्यकार ने **"चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः, यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः"** लिखकर जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और यदृच्छाशब्दरूप से शब्दों का चार प्रकार से विभाग किया है। व्यक्ति में सङ्केतग्रह मानने पर यह चारों प्रकार का शब्दविभाग भी नहीं बन सकता, क्योंकि जब व्यक्ति में सङ्केतग्रह मान जायेगा तो गौः, शुम्लः, चलः, डित्थः, आदि चारों शब्दों से व्यक्ति का ही बोध होगा। इसलिए गोशब्द जातिवाचक, शुक्लपद गुणवाचक, चलपद क्रियावाचक और डित्थपद उस व्यक्ति का नाम होने से यदृच्छाशब्द है, इस प्रकार का विभाग नहीं बन सकता है। अत एव व्यक्ति में सङ्केतग्रह न मानकर व्यक्ति के उपाधिभूत जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छारूप धर्मों में ही सङ्केतग्रह मानना उचित है।[७८]

वैयाकरणों के अनुसार शब्दों की अर्थ में जो प्रवृत्ति होती है, वह प्रवृत्ति निमित्तभेद से चार प्रकार की होती है[७९], अतः अर्थ चार प्रकार के होते हैं— जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा। गो-आदि जातिवाची शब्दों से गो-आदि जाति का, गुणवाची शब्दों से शुक्लादि गुणों का, क्रियावाची शब्दों से क्रिया का तथा यदृच्छाशब्द, जो व्यक्तिविशेष रूप द्वारा किसी के नाम रखे गये हैं, उन से व्यक्ति या द्रव्य, यथा-डित्थ, कपित्थ आदि का बोध होता है। वैयाकरण आनन्त्य एवं व्यभिचारदोष के कारण व्यक्ति में सङ्केतग्रह न मान कर व्यक्ति के उपाधिभूत जाति गुण क्रिया एवं यदृच्छारूप धर्म में मानते हैं, जिसका विशद विवेचन वैयाकरणों ने यथास्थल किया है। इन्हीं का अनुकरण काव्यशास्त्रियों ने भी किया है।

मीमांसकों का मत

सङ्केतग्रहविषयक मीमांसकों के मत का आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश की मूलकारिका[८०] में "जातिरेव" कहकर उसे स्वोपज्ञवृत्ति में स्पष्ट किया है। उनके अनुसार मीमांसकों का सिद्धान्त यह है कि जाति आदि चारों के स्थान पर केवल जाति में ही शब्द का सङ्केतग्रह होता है। बर्फ, दूध और शङ्ख आदि में रहने वाले वास्तव में भिन्न शुक्ल आदि गुणों में जिनमें, जिनके कारण शुक्लः शुक्लः इस प्रकार का एकाकार कथन और प्रतीति की उत्पत्ति होती है, वह शुक्लत्व आदि सामान्य है। गुड़ और तण्डुल आदि के पाक आदि में भी इस प्रकार का पाकत्व आदि सामान्य रहता है। इसी प्रकार बालक वृद्ध और तोता आदि पदार्थों में डित्थत्वादि सामान्य रहता है। इसलिए सब शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त केवल एक जाति ही है। इसलिए जात्यादि चार को प्रवृत्तिनिमित्त न मानकर केवल जाति को ही प्रवृत्तिनिमित्त मानना चाहिए तदनुसार सङ्केतग्रह भी जाति में ही मानना उचित है।[८१] इनके मत में भी व्यवहार तो व्यक्ति से ही निष्पन्न होता है, जाति से नहीं। इस समस्या के निराकरण के लिए अविनाभाव सम्बन्ध से सम्बद्ध होकर जाति से व्यक्ति का आक्षेप कर लिया जाता है।

नैयायिकों का मत

नैयायिकों के अनुसार जाति एवं आकृति से विशिष्ट व्यक्ति में सङ्केतग्रह मानना चाहिए। न्यायसूत्रकार गौतम ने **"जात्याकृतिव्यक्तयस्तु पदार्थः"**[८२] कहकर जाति एवं आकृति से विशिष्ट व्यक्ति को पदार्थ बतलाया है। नैयायिकों के अनुसार न तो केवल जाति में सङ्केतग्रह माना जा सकता है, न ही केवलव्यक्ति में। केवलव्यक्ति में सङ्केतग्रह मानने पर आनन्त्य एवं व्यभिचार दोष आते हैं, तो केवल जाति में शक्तिग्रह मानने पर शब्द से केवल जाति की उपस्थिति होने के कारण व्यक्ति का भान शब्द से नहीं हो सकता है। यदि केवल जाति में सङ्केतग्रह मानकर व्यक्ति का भान आक्षेप से माना जाये तो उसका शाब्दबोध में अन्वय नहीं हो सकेगा, क्योंकि **"शाब्दी हि आकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यते"** इस सिद्धान्त के अनुसार शब्दशक्ति से लभ्य अर्थ का ही "शाब्दबोध में अन्वय हो सकता है, आक्षेप लभ्य अर्थ शाब्दबोध में अन्वित नहीं हो सकता है। इसीलिए नैयायिकों के अनुसार केवल व्यक्ति या केवल जाति किसी एक में शक्तिग्रह नहीं माना जा सकता, अतः वे जाति एवं आकृतिविशिष्ट व्यक्ति में ही सङ्केतग्रह स्वीकार करते हैं, जिसे मम्मट ने **"तद्वान् शब्दार्थः"**[८३] कहकर सङ्केतग्रहविषयक नैयायिकों के मत को उद्धृत किया है।

बौद्धों का मत

सङ्केतग्रह के विषय में बौद्धों का मत सबसे विलक्षण है। वे "अपोह" को शब्दार्थ मानते हैं। बौद्धों ने जाति, द्रव्य या व्यक्ति आदि के अस्तित्व को अस्वीकार कर शाब्दबोध के सम्बन्ध में अपोहवाद या "तद्भिन्नभिन्नवाद" के सिद्धान्त की स्थापना की, जिसके अनुसार शब्द विधिमुखेन जाति, व्यक्ति या द्रव्य आदि का बोध नहीं करा सकता, क्योंकि उनकी तात्त्विक सत्ता ही नहीं है। अतः शब्द का सङ्केत तद्भिन्न से भिन्न में रह सकता है। शब्द तद्भिन्न का निषेध करता है और इस प्रकार तद्भिन्न से उस वस्तु की भिन्नता का बोध कराता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सङ्केतग्रह के विषय में वैयाकरणों

मीमांसकों, नैयायिकों एवं बौद्धों का परस्पर भिन्नता रखने वाला अपना-अपना स्वतन्त्र मत है। इस सङ्केतग्रह का ज्ञान हमें कैसे होता है, इसके सम्बन्ध में भी उपर्युक्त विचारकों ने विस्तृत चर्चा की है। इन सब विचारकों का संक्षिप्तरूप जगदीश तर्कालङ्कार के शब्दशक्तिप्रकाशिका में उद्धृत एक कारिका में देखा जा सकता है, जिसके अनुसार सङ्केतग्रह का ज्ञान व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विवरण एवं ज्ञातपद के साहचर्य इन आठ साधनों से होता है। इन आठ साधनों में भी लोकव्यवहार ही सबसे मुख्य साधन है।[८४]

१.१.३ शब्दार्थसम्बन्ध

शब्द और अर्थ के मध्य सम्बन्ध है या नहीं? यदि है तो वह सम्बन्ध नित्य है अथवा कृतक? इस विषय पर वैयाकरणों और दार्शनिकों ने पर्याप्त चिन्तन मनन किया है। वैयाकरण, मीमांसक और काव्यशास्त्री जहाँ शब्द और अर्थ के मध्य नित्य सम्बन्ध के पक्षधर हैं, वही न्यायवैशेषिक दर्शन में इनके बीच के सम्बन्ध को कृतक सिद्ध किया गया है। वैयाकरणों, मीमांसकों नैयायिकों एवं काव्यशास्त्रियों के शब्दार्थसम्बन्धविषयक विचार यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत है—

१.१.३.१ शब्दार्थसम्बन्धविषयक वैयाकरणों का मत

आचार्य पतञ्जलि का मत

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने वार्तिककार कात्यायन के **"सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शास्त्रेण धर्मनियमो यथा लौकिक वैदिकेषु"**[८५] इस वार्तिक के "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" इस अंश की व्याख्या करके यह स्पष्ट किया है कि पाणिनि और कात्यायन शब्द और अर्थ में सम्बन्ध को मानते हैं और वह नित्य है।[८६] कैयट ने पतञ्जलि के मत को स्पष्ट किया है कि शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध की नित्यता का क्या भाव है। उनके अनुसार शब्द में अर्थ का बोध कराने की योग्यता नामक शक्ति स्वाभाविक

है। शब्द में यह स्वाभाविक योग्यता है कि जब उसका उच्चारण किया जाता है तो वह अर्थ की उपस्थिति कराता है। द्रव्यरुपी अर्थ के अनित्य होने पर भी सम्बन्ध को यह नित्य कहते हैं, क्योंकि अर्थबोधन की योग्यता शब्द में रहती है और शब्द नित्य है।[८७]

व्याडि का मत

आचार्य भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के स्वोपज्ञवृत्ति में व्याडि के शब्दार्थसम्बन्धविषयक एक श्लोक को उद्धृत किया है। जिसके अनुसार व्याडि का कथन है कि लोक और वेद में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध करने वाला कोई व्यक्ति नहीं है। उनका सम्बन्ध अनादि और अकर्तृक है। शब्दों द्वारा शब्दों के अर्थ के साथ सम्बन्ध कोई व्यक्ति कर ही कैसे सक़ता है।[८८] वैयाकरण व्यवहार-परम्परा के कारण शब्दार्थ सम्बन्ध को स्वाभाविक एवं अनादि मानकर उसकी नित्यता का प्रतिपादन करते हैं। हरिवृषभ और कैयट इसी प्रकार की नित्यता का प्रतिपादन करते हैं। उनके अनुसार शब्द और वस्तुओं का सम्बन्ध स्वाभाविक है। शब्द का वस्तु के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध यह है कि यदि शब्द का वस्तु के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं होता तो शब्द के उच्चारण करने पर वस्तु का ज्ञान नहीं होता; परन्तु अनुभव में देखा जाता है कि शब्द से वस्तु का ज्ञान होता है, अतः शब्द और वस्तु का यह सम्बन्ध स्वाभाविक है।[८९] कैयट ने भी शब्दार्थ सम्बन्ध को व्यवहार परम्परा से अनादि मानकर उसकी नित्यता का प्रतिपादन किया है।[९०]

भर्तृहरि का मत

भर्तृहरि ने शब्दार्थ विषयक अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए लिखा है कि प्राचीन सूत्रकार, वार्तिककार और भाष्यकार महर्षियों ने शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य बताया है।[९१] भर्तृहरि के अनुसार सूत्रकार जैमिनि ने **"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्यज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्"**[९२] वार्तिककार कात्यायन ने "सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे"[९३] तथा महर्षि पतञ्जलि ने **"अभिधानं पुनः स्वाभाविकम्"**[९४] के

द्वारा शब्द मे अर्थबोधकता का गुण स्वाभाविक बताकर शब्दार्थ सम्बन्ध की स्वाभाविकता का प्रतिपादन किया है। भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ के मध्य दो प्रकार के सम्बन्ध का प्रतिपादन किया है— योग्यता सम्बन्ध और कार्यकारण सम्बन्ध।[९५]

योग्यता सम्बन्ध : पाणिनि ने "तस्येदम्" सूत्र[९६] के द्वारा कार्य-कारण की सत्ता को बताया है तथा "तदर्हति"[९७] एवं "तदर्हम्"[९८] सूत्रों के द्वारा शब्द और अर्थ के योग्यता सम्बन्ध का प्रतिपादन किया है। इसी आधार पर पतञ्जलि और भर्तृहरि आदि ने शब्द और अर्थ दोनों में योग्यता सम्बन्ध की सिद्धि की है। योग्यता सम्बन्ध का निरूपण करते हुए भर्तृहरि ने कहा है कि जिस प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियों में रूप आदि के ग्रहण करने और स्वभावादिविषयक ज्ञान उत्पन्न करने की स्वाभाविक योग्यता है उसी प्रकार शब्द में यह स्वाभाविक योग्यता है कि शब्द उच्चारण करते ही अर्थ का बोध कराता है। यह योग्यता ही सम्बन्ध है।[९९]

कार्यकारण सम्बन्ध : भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ का दूसरा सम्बन्ध कार्यकारणरूप बतलाया है। शब्द और अर्थ दोनों एक दूसरे के कारण और कार्य हैं। जहाँ योग्यतासम्बन्ध शब्द की अर्थबोधकता शक्ति पर प्रभाव डालता है, वही कार्य कारण सम्बन्ध उसकी व्यावहारिक शक्ति पर। कार्यकारणरूप सम्बन्ध को बताते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि शब्द अर्थ का कारण है अर्थात् श्रोता की बुद्धि में जो अर्थ विद्यमान रहता है इसका कारण शब्द है। शब्द के द्वारा श्रोता का बुद्धिगत अर्थ जाग्रत होता है। चूँकि बुद्धि में पहले से विद्यमान अर्थ द्वारा शब्द का ज्ञान होता है। अत: अर्थ शब्द का कारण होता है; क्योंकि अर्थ की बुद्धि में पूर्व उपस्थित ही उसका ज्ञान करती है।[१००] इस प्रकार वैयाकरणों ने शब्दार्थसम्बन्ध के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उनके मध्य सम्बन्ध की नित्यता का अनेकधा प्रतिपादिन किया है।

१.१.३.२ शब्दार्थसम्बन्धविषयक न्याय-वैशेषिक मत

नैयायिकों ने शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता का अनेक तर्कों के माध्यम

से खण्डन किया है जिसका उल्लेख भाष्यकार शबरस्वामी तथा वार्तिककार कुमारिल भट्ट आदि मीमांसकों ने पूर्वपक्ष के रूप में अपने ग्रन्थों में उपस्थापित किया है। न्यायवैशेषिक दर्शन में शब्दार्थसम्बन्ध को सामयिक स्वीकार किया गया है। न्यायसूत्रकार गौतम कहते हैं कि शब्द और अर्थ में व्यवस्था देखी जाती है, अतः सम्बन्ध का निषेध नहीं किया जा सकता है। यदि स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है और निषेध भी नहीं किया जा सकता है तो सम्बन्ध कैसा है, इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार गौतम कहते हैं कि यह सामयिक अर्थात् साङ्केतिक है।[१०१] इसकी व्याख्या करते हुए भाष्यकार वात्स्यायन ने भी इसे सामयिक बतलाया है।[१०२] वैशेषिक सूत्रों के प्रणेता कणाद ने भी शब्दार्थ सम्बन्ध को साङ्केतिक स्वीकार किया है।[१०३] आचार्य शङ्कर मिश्र ने इस वैशेषिक सूत्र के उपस्कारभाष्य में सामयिक शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि— समय का अर्थ है- इस शब्द से इस अर्थ को समझना चाहिए इस प्रकार का ईश्वरीय सङ्केत अर्थात् जिस शब्द का जिस अर्थ में परमात्मा ने सङ्केत किया है, वह उस अर्थ का बोध कराता है।[१०४] इस प्रकार शङ्कर मिश्र के अनुसार शब्द और अर्थ के मध्य ईश्वरेच्छारूप सङ्केत ही सम्बन्ध है। नैयायिक जयन्त भट्ट के अनुसार शब्द और अर्थ में वाच्यवाचक नियम का निर्धारण समय है, वही सम्बन्ध है।[१०५]

इस प्रकार हम देखते हैं कि न्यायवैशेषिक दर्शन में शब्दार्थ के सम्बन्ध को सामयिक बतलाकर उसे स्वाभाविक नहीं बल्कि कृतक सिद्ध किया गया है, अर्थात् उनके अनुसार शब्द और अर्थ के बीच सम्बन्धकर्ता ईश्वर है न कि उसके बीच अनादि सम्बन्ध है, जैसा कि वैयाकरण और मीमांसक मानते हैं।

१.१.३.३. शब्दार्थसम्बन्धविषयक मीमांसक मत

शब्द तथा अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध का निरूपण करते हुए मीमांसकों ने यह धारणा व्यक्त की है कि जिस प्रकार अग्नि में उष्णता का धर्म नित्यरूप से रहता है उसी प्रकार शब्द में अर्थ के बोध का धर्म सनातन रूप से विद्यमान रहता है। शब्दविशेष से अर्थविशेष का बोध

इसलिए सम्भव होता है कि उस शब्दविशेष में अर्थविशेष के बोध की शक्ति सनातन रूप से विद्यमान रहती है। मीमांसकों की इस मान्यता पर नैयायिक आक्षेप करते हैं कि यदि शब्द में अर्थबोध की शक्ति की सार्वत्रिक और नित्य सत्ता होती तो शब्द सुनते ही सबको उसमे अर्थ की प्रतीति हो जानी चाहिए। यदि अर्थबोध की शक्ति शब्द में ही हो तो उसका बोध सबको होना चाहिए। इस आक्षेप का उत्तर देते हुए मीमांसक कहते हैं कि शब्द में अर्थव्यञ्जकता का धर्म रहता तो सनातन रूप में ही है, फिर भी तब तक अर्थ का बोध नहीं कराता है जब तक दोनों के सम्बन्ध का ज्ञान न हो जाए। इसकी पुष्टि के लिये वे एक दृष्टान्त देते हैं कि जिस प्रकार ज्ञानेन्द्रियों में अपने अपने विषय को ग्रहण करने की शक्ति के अन्तर्निहित रहने पर भी सभी ज्ञानेन्द्रियाँ सदा सभी विषयों के साथ सम्पर्क होने पर ही उन्हें ग्रहण कर पाती हैं, उसी प्रकार शब्दों में अर्थ को उद्घाटित करने की शक्ति के अन्तर्निहित होने पर भी शब्द तभी अर्थ को ग्रहण करता है जब शब्दार्थ के सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है।[१०६] आचार्य जैमिनि का औत्पत्तिक सूत्र शब्दार्थसम्बन्ध की नित्यता का प्रतिपादन करता है।[१०७] भाष्यकार शबरस्वामी ने औत्पत्तिक का अर्थ नित्य किया है।[१०८] शब्द और अर्थ के बीच संयोग सम्बन्ध का निराकरण करने वाले शबर स्वामी ने पूर्वपक्षियों के युक्तियों का खण्डन करते हुए शब्द और अर्थ के बीच वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध स्थापित कर उसे लोकसिद्ध माना है।[१०९] शबरस्वामी के अनुसार शब्दार्थसम्बन्ध को स्थापित करने वाला कोई पुरुष नहीं है क्योंकि उसकी सत्ता के विषय में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं, अतः उन्होंने शब्द एवं अर्थ के सम्बन्ध को स्वतः सिद्ध माना है। इस प्रकार मीमांसकों ने शब्द एवं अर्थ के मध्य वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध बतलाकर उसे नित्य बतलाया है। उनके अनुसार शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य ही होता है तथा यह अनादि और अपौरुषेय है।[११०]

१.१.३.४ शब्दार्थसम्बन्धविषयक साहित्यशास्त्रीय मत

काव्यशास्त्रियों को शब्द और अर्थ के अभेद का सिद्धान्त ही मान्य है।

काव्यशास्त्र के अनेक आचार्यों ने पद और पदार्थ की अभिन्नता स्वीकार की है। आचार्य भामह ने शब्दार्थ को काव्य में अभिन्न मानते हुए काव्य का लक्षण किया है— **"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्"**[१११] आचार्य दण्डी ने **"इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली काव्यम्"**[११२] कहकर पद और पदार्थ के सम्बन्ध को स्वीकार किया है। इसी प्रकार वामन ने **"काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते"**[११३] एवं रुद्रट ने **"शब्दार्थौ काव्यम्"** कहकर शब्दार्थ के साहचर्य को प्रकट किया है। इसी प्रकार मम्मट, आनन्दवर्धन, हेमचन्द्र, वाग्भद्र, विश्वनाथ, विद्याधर आदि काव्यशास्त्रियों ने भी शब्दार्थ के नित्य साहचर्य की घोषणा की है। भोज ने वाग्देवी के चार आस्पद ध्वनि, वर्ण, पद और वाच्य का उसके सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम रूप का स्मरण करते हुए परावाक् के जिस स्वरूप की उपासना की है, उसमें वाणी और अर्थ के अभेद की स्वीकृति स्पष्ट है।[११४]

आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवितम् में शब्द और अर्थ अलङ्कार और अलङ्कार्य की तात्त्विक अभिन्नता मानी है और विवेचन विश्लेषण की व्यावहारिक सुविधा मात्र के लिये शब्द तथा अर्थ के बीच तथा शब्द में भी वर्ण पद वाक्य आदि के रूप में भेद कल्पना की आवश्यकता स्वीकार की है। कालिदासादि से लेकर तुलसीदास आदि महाकवियों ने शब्दार्थ का सम्बन्ध सम्पृक्त अथवा अभिन्न माना है। महाकवि कालिदास ने पार्वती परमेश्वर के समान सम्पृक्त वाणी की वन्दना की है।[११५] इसी प्रकार तुलसीदास ने भी वाणी एवं अर्थ को उपर उपर भिन्न दिखने वाले किन्तु तत्त्वतः अभिन्न कहा है।[११६] इस प्रकार हम देखते हैं कि समस्त काव्यशास्त्री एक स्वर से शब्द एवं अर्थ के अभेद को स्वीकार करते हैं। उपर्युक्त शब्दार्थविषयक विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय वाङ्मय में निहित शब्दार्थविषयक अवधारणा कितनी व्यापक है। भारतीय वाङ्मय का शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र हो जिसने शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध को अपने चर्चा का विषय न बनाया हो। शब्दार्थ विषयक चर्चा प्रत्यक्ष या अप्रयक्ष रूप से भारतीय चिन्तन परम्परा में अनुस्यूत है, जो इसकी महत्ता को प्रतिपादित करती है।

१.२. शब्दवृत्ति विचार

शब्द का मुख्य प्रयोजन अर्थज्ञान कराना है। अर्थ का ज्ञान कराने के लिए हम शब्द का प्रयोग करते हैं। यहाँ यह विचारणीय है कि शब्द में वह कौन सा तत्त्व है, जिससे हमें अर्थ का ज्ञान होता है? इस सम्बन्ध में शाब्दिकों ने कहा है कि शब्द जिसके माध्यम से अर्थ ज्ञान कराने में सक्षम हो पाता है, वह वृत्ति कहलाती है। इसे शक्ति, वृत्ति, व्यापार आदि कई नामों से अभिहित किया गया है। वैयाकरणों ने शब्द बोध के लिए वृत्ति ज्ञान को आवश्यक माना है। नागेश भट्ट के अनुसार जब तक वृत्ति ज्ञान नहीं होगा तब तक शब्द बोध नहीं होगा।[११७]

समग्र भाषिक अर्थबोध को दृष्टि में रखकर काव्यशास्त्र के आचार्यों ने शब्द के तीन प्रकार माने हैं— वाचक, लक्षक और व्यञ्जक[११८]। इस आधार पर अर्थ भी तीन प्रकार के माने गये हैं— वाच्य, लक्ष्य एवं व्यङ्ग्य।[११९] इन तीन प्रकार के अर्थां के अतिरिक्त कुछ लोगों ने 'तात्पर्यार्थ' नामक चौथा अर्थ भी स्वीकार किया है जिसका सङ्केत मम्मट ने किया है।[१२०] वाचकादि शब्द जिस व्यापार के द्वारा अपने अर्थ का बोध कराते हैं, उन्हें वृत्ति कहते हैं। ये वृत्तियाँ तीन प्रकार की मानी गयीं हैं— अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना। अभिधावृत्ति व्यञ्जक शब्दों से व्यङ्ग्यार्थ का बोध कराती है।[१२१] इन तीन प्रकार की वृत्तियों में अभिधा सहज वृत्ति है। अतः उसे मुख्य वृत्ति भी कहते हैं। लक्षणा प्रत्यक्षतः अर्थगत होने पर भी अर्थ से अविनाभाव रूप से सम्बद्ध शब्द से भी परम्परया संसक्त होती है। अतः उसे शब्द पर आरोपित वृत्ति माना गया है। लक्षणा को गौणी वृत्ति भी कहते हैं। व्यञ्जना में शब्द से प्रत्यक्षतः अकथित भाव, विचार आदि के बोध की असीम शक्ति रहती है। वह शक्ति सम्पूर्ण भाषिक संदर्भ में वक्ता के उद्दिष्ट अर्थ को स्रोता के मन तक सम्प्रेषित करने में समर्थ होती है। अतः अभिधा की तरह शब्द की मुख्य वृत्ति नहीं होने पर भी व्यञ्जना को काव्य के अर्थभावना में सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। व्यञ्जनावृत्ति से बोध्य व्यङ्ग्य अर्थ के सौन्दर्य की प्रधानता होने पर काव्य को ध्वनि काव्य कहते हैं और वैसे काव्य को

उत्तम कोटि का काव्य माना जाता है।[१२२] व्यञ्जना वृत्ति का कार्य क्षेत्र असीम है। अतः अभिधा और लक्षणा वृत्तियों को जहाँ विधि मुखेन परिभाषित कर उनकी सीमा का निर्धारण कर दिया गया है, वहाँ व्यञ्जना के स्वरूप को निषेध मुखेन निर्दिष्ट कर उससे असीम अर्थ के बोध की सम्भावना स्वीकारी गयी है।

उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त वाच्यादि तीन अर्थों के अलावा जिन लोगों ने तात्पर्यार्थ नामक चौथा अर्थ स्वीकारा है, वे इस तात्पर्यार्थ के बोध के लिए 'तात्पर्य' नामक वृत्ति की कल्पना करते हैं। तात्पर्यवादियों के अनुसार अभिधा वृत्ति के द्वारा पदार्थोपस्थिति के अनन्तर आकाङ्क्षा, योग्यता एवं सन्निधि के माध्यम से पदार्थों में परस्पर अन्वय कराकर वाक्यार्थ अथवा तात्पर्यार्थ का बोध कराने वाली वृत्ति ही तात्पर्य वृत्ति कहलाती है। इस तात्पर्य वृत्ति का स्वरूप क्या है, इसके समर्थक एवं विरोधी आचार्यों की इसके विषय में क्या धारणायें हैं, वाक्यार्थबोध में यह कैसे सहायिका है, इत्यादि का विशद विवेचन इस शोधग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य है। अतः इसका विशद विवेचन आगे के अध्यायों में किया गया है। अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना एवं तात्पर्य इन चारों वृत्तियों में अभिधा वृत्ति को तो सभी विचारकों ने एक स्वर से स्वीकार किया है किन्तु अन्य तीन वृत्तियों के सम्बन्ध में मतभेद दृष्टिगोचर होता है। कुमारिल भट्ट ने तो स्वयं अभिधा एवं लक्षणा दो वृत्तियों को ही स्वीकार किया है परन्तु उनके अनुयायी पार्थसारथि मिश्र आदि अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्य वृत्ति को मानते हैं। इन्हें व्यञ्जना वृत्ति मान्य नहीं है। नैयायिकों को अभिधा, लक्षणा एवं अनुमान तीन वृत्तियाँ मान्य हैं। ये व्यञ्जना का अन्तर्भाव अनुमान में ही कर लेते हैं। वैयाकरणों ने अभिधा वृत्ति को 'शक्ति' के नाम से अभिहित किया है। वैयाकरणों में भी लक्षणा को लेकर मतभेद है। जहाँ कौण्ड भट्ट आदि प्राचीन वैयाकरण शक्ति एवं व्यञ्जना दो ही वृत्ति मानते हैं, वहीं नव्य-वैयाकरण नागेश भट्ट शक्ति, लक्षणा एवं व्यञ्जना तीनों वृत्तियों को मानते हैं।[१२३] इस प्रकार काव्यशास्त्रियों

में भी वृत्तियों को लेकर मतवैभिन्य दिखलायी पड़ता है। कुछ आचार्यों को केवल अभिधा मान्य है तो कुछ आचार्यों को अभिधा के साथ लक्षणा एवं व्यञ्जना; जबकि कुछ काव्यशास्त्री अभिधा, लक्षणा के साथ व्यञ्जना को अस्वीकार कर तात्पर्य वृत्ति को स्वीकारते हैं। चूँकि इस शोधग्रन्थ का मुख्य विषय काव्यशास्त्र में तात्पर्यवृत्ति विषयक विचार हैं अतः उससे पहले काव्यशास्त्रियों को अभिमत अन्य वृत्तियों-अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना का सामान्य स्वरूप संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

१.२.१ अभिधावृत्ति

काव्यशास्त्रियों में शब्द वृत्तियों का विवेचन आनन्दवर्द्धन के ध्वन्यालोक से होता है तथा इसकी सुस्पष्ट व्याख्या उनके भी परवर्ती ग्रन्थों में देखने को मिलती है। आनन्दवर्द्धन से पूर्व भामह, दण्डी, वामन आदि आचार्यों के प्रतिपाद्य विषय मुख्यतः गुण एवं अलंकारादि ही थे अतः शब्द-वृत्तियों का विवेचन इनके द्वारा नहीं किया गया किन्तु गुणों एवं अलंकारों के शब्द एवं अर्थ पर आश्रित होने के कारण प्रसंगतः इन आचार्यों ने भी अभिधा तथा अभिधेयार्थ आदि का नाम अवश्य लिया है। अभिधावृत्ति का सर्वप्रथम विशद विवेचन मुकुल भट्ट ने 'अभिधावृत्तिमातृका' नामक अपने ग्रन्थ में किया है। लेकिन इस ग्रन्थ में भी इन्होंने अभिधा का कोई स्पष्ट लक्षण नहीं दिया है। उनके अनुसार शब्द मुख्य एवं लाक्षणिक दो प्रकार के अभिधा व्यापार से अर्थ की प्रतीति कराता है।[१२४] मुख्य एवं लाक्षणिक अभिधा व्यापार से प्रतीत होने वाले अर्थों को भी मुख्य एवं लाक्षणिक कहा जाता है। इनमें मुख्य अभिधा के चार प्रकार होते हैं एवं लाक्षणिक अभिधा के छः। इस प्रकार मुकुल भट्टाभिमत अभिधा के दश भेद होते हैं।[१२५] जिस अर्थ का ज्ञान शब्द व्यापार से ही होता है, उसे मुख्य कहा जाता है। लक्षणीय अर्थ का ज्ञान मुख्य अर्थ की पर्यालोचना द्वारा होता है।[१२६]

अभिधावृत्ति का सर्वप्रथम सुस्पष्ट लक्षण मम्मट ने काव्यप्रकाश में

किया है। उनके अनुसार साक्षात् सङ्केतित अर्थ को बोधित करने वाला शब्द वाचक कहलाता है[१२७] तथा साक्षात् सङ्केतितार्थ को ही मुख्य कहा जाता है। उस मुख्य अर्थ के बोधन में वाचक शब्द का जो व्यापार है, वही अभिधा कहलाता है।[१२८] आचार्य विश्वनाथ के अनुसार सङ्केतित अर्थ का बोधन करने वाली शब्द की सबसे प्रथम शक्ति अभिधा कहलाती है।[१२९] अप्पयदीक्षित नें वृत्ति वार्तिक में अभिधा को परिभाषित करते हुए लिखा है कि जो शक्तिग्रह सङ्केत से अर्थ का प्रतिपादन करती है, उसे अभिधा कहते हैं।[१३०] अप्पयदीक्षित ने अभिधा को रूढि, योग एवं योगरूढि के भेद से तीन प्रकार का बतलाया है।[१३१] इनमें से अखण्ड शक्तिग्रह से एकार्थ मात्र की प्रतिपादिका रूढि कही जाती है।[१३२] योगरूप अभिधा उसे कहते हैं जो प्रकृतिप्रत्ययसमासादिशक्ति मात्र में किसी पद का एकार्थ प्रतिपादन करती हो।[१३३] अवयव तथा समुदाय दोनों शक्तियों के सापेक्ष, यदि एकार्थ की प्रतिपादकता हो तो योगरूढि अभिधा होती है।[१३४]

अभिधावृत्ति के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में विद्वानों में अलग-अलगं विचार है। कुछ विचारकों (भट्टलोल्लटादि) की मान्यता है कि शब्द के द्वारा एक व्यापार से ही उसमें समग्र अर्थ का बोध हो जाता है। जैसे बाण आदि अस्त्र एक ही शक्ति से प्रयोक्ता के हाथ से चलकर शत्रु का मर्म-भेदन करता हुआ उसका प्राण ले लेता है, उसी प्रकार अभिधा सङ्केतित अर्थ का बोध कराती हुई वक्ता के समग्र अभिप्रेत अर्थ का भी बोध कराती है।[१३५] परन्तु अधिकांश विचारकों की दृष्टि में अभिधावृत्ति का क्षेत्र निर्धारित है। वह शब्द के साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराने के बाद विरत हो जाती है। फिर उस शब्द से साक्षात् सङ्केतित अर्थ के अतिरिक्त जिन अर्थों का बोध होता है वह अन्य वृत्तियों लक्षणादि का कार्यक्षेत्र है। इस तथ्य के स्पष्टीकरण के क्रम में कहा गया है कि अभिधा विशेषण रूप अर्थ का बोध करा लेने के बाद ही अपनी शक्ति खो बैठती है और विशेष्य रूप अर्थ का बोध वह नहीं करा सकती।[१३६]

इस प्रकार एक ओर जहाँ अभिधा को असीम शक्ति मानकर उसे वक्ता

के समग्र अभिप्रेत अर्थ के बोध में समर्थ मान लिया गया है, वहीं दूसरी ओर उसे केवल विशेषण बोध तक सीमित कर विशेष्य अर्थात् शक्ति रूप अर्थ के बोध के लिए अन्य शक्ति सापेक्ष बना दिया गया है। ये दोनों ही विचार अतिवादी प्रतीत हो रहे हैं। वस्तुतः भाषा के पदों में कुछ नियत सङ्केत होते हैं जो मुख्यरूपेण लोकव्यवहार से निर्धारित किये जाते हैं। अभिधावृत्ति उसी साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध कराती है। उस संकेत सीमा से बाहर शब्द से जिन अर्थों का बोध होता है उसके लिए हमें लक्षणादि अन्य शब्दवृत्तियों का सहारा लेना पड़ता है।

१.२.२. लक्षणावृत्ति

भाषा में यह वैशिष्ट्य होता है कि जो शब्द जिस अर्थ का वाचक होता है अर्थात् जिस शब्द में विशिष्ट अर्थ के बोध का सङ्केत रहता है, केवल उसी अर्थ में उस शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता है, कभी-कभी उससे भिन्न अर्थ का बोध कराने के लिए भी उस पद का प्रयोग किया जाता है। यह प्रवृत्ति काव्य-रचना में विशेष रूप से पायी जाती है, परन्तु भाषा के लोकव्यवहार में भी यह प्रवृत्ति अनेकत्र देखी जा सकती है। जब शब्द के साक्षात् सङ्केतित अर्थ से कुछ विशिष्ट अर्थ में किसी शब्द का प्रयोग होता है तब अभिधा वृत्ति उसके अर्थ बोध में असमर्थ हो जाती है, वहाँ पर वक्ता के विवक्षित अर्थ का बोध लक्षणा एवं व्यञ्जना वृत्तियों के माध्यम से होता है। जब कोई शब्द अभिधा वृत्ति के द्वारा वक्ता के विवक्षित अर्थ को बोध कराने में असमर्थ हो जाता है तब अर्थ प्रत्यायन के लिए लक्षणा वृत्ति का आश्रय लिया जाता है। लक्षणा वृत्ति के द्वारा प्रतिपादित अर्थ को लक्ष्यार्थ या गौणार्थ कहा जाता है तथा इस अर्थ के प्रतिपादक शब्द को लाक्षणिक। वैयाकरणों, मीमांसकों, नैयायिकों तथा काव्यशास्त्रियों ने लक्षणा वृत्ति का विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। काव्यशास्त्रियों द्वारा लक्षणा वृत्ति का सर्वाङ्गीण विवेचन प्रस्तुत किया गया है जिन पर वैयाकरणों मीमांसकों एवं नैयायिकों का प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता है। काव्यशास्त्रियों में सर्वप्रथम लक्षणा का साङ्गोपाङ्ग विवेचन मम्मट के काव्यप्रकाश में प्राप्त होता है।

यद्यपि मम्मट से पूर्व आनन्दवर्द्धन के ध्वन्यालोक में एवं अग्निपुराण तथा लक्षणाविरोधी आचार्य मुकुलभट्ट की अभिधावृत्तिमातृका के साथ स्वयं मम्मट के शब्दव्यापाविचार में लक्षणा विषय पर प्रकाश डाला जा चुका था तथापि इसका विकसित रूप हमें काव्य प्रकाश में तदनन्तर बाद के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में देखने को मिलता है। लक्षणा को परिभाषित करते हुए मम्मट ने लिखा है कि मुख्यार्थ का बाध होने पर अर्थात् अभिधा वृत्ति से बोध्य सङ्केतित अर्थ में बाधा होने पर जो वृत्ति उस अर्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ की रूढ़ि अथवा प्रयोजन से प्रतीति कराती है, उस आरोपित वृत्ति को लक्षणा कहते हैं।[१३७] मम्मट कृत लक्षणा की परिभाषा से स्पष्ट है कि लक्षणा को शब्द पर आरोपित वृत्ति माना गया है। लक्षणा की यह विशेषता अभिधा वृत्ति से इसमें भेद को स्पष्ट करती है। शब्द की आरोपित वृत्ति होने के कारण ही लक्षणा को गौणी वृत्ति भी कहते हैं। इसे आरोपित या गौणी वृत्ति मानने का कारण यह है कि लक्ष्यार्थ की प्रतीति मुख्यार्थ बोध सापेक्ष होती है। लक्षणा वृत्ति के द्वारा मुख्य अर्थ से उपलक्षित अन्य अर्थ की प्रतीति होती है। यदि शब्द के मुख्य अर्थ का ज्ञान किसी को नहीं हो तो वह उस शब्द के लक्ष्यार्थ को ग्रहण नहीं कर सकता। दूसरी बात यह भी है कि लक्षणावृत्ति का सीधा सम्बन्ध मुख्य अर्थ के साथ रहता है। अतः प्रत्यक्षतः वह अर्थनिष्ठ वृत्ति है, शब्दनिष्ठ नहीं। चूँकि शब्द अर्थ से अविभाज्य रूप से सम्पृक्त रहते हैं इसलिए अर्थनिष्ठ लक्षणा वृत्ति परम्परया शब्दनिष्ठ मान ली जाती है।[१३८]

इस प्रकार साक्षात् रूप से शब्द के मुख्य अर्थ से सम्बद्ध लक्षणावृत्ति प्रकारान्तर से उस मुख्य अर्थ के वाचक शब्द पर भी आरोपित हो जाती है और उस शब्द से साक्षात् सङ्केतित अर्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ का बोध कराती है। लक्षणा के सम्बन्ध में एक बात विचारणीय यह है कि लक्षणा का बीज क्या है, अर्थात् वास्तव में लक्षणा का प्रयोग करने का औचित्य क्या है? इसको लेकर विद्वानों में दो प्रकार के मत पाये जाते हैं। कुछ लोगों के अनुसार अन्वयानुपपत्ति ही लक्षणा का बीज है अर्थात् शक्यार्थ का वाक्य में अन्वय न हो पाना ही लक्षणा का बीज है जबकि कुछ लोग

तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानते हैं। इन दोनों ही मतों का विवेचन करते हुए नागेश भट्ट ने तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज स्वीकार किया है। उनके अनुसार शक्यार्थ का वाक्य में अन्वय न हो पाने का विचार ही लक्षणा का बीज है परन्तु यथार्थ तो यह है कि शक्य अर्थ का वाक्य में तात्पर्य की उपपत्ति न हो पाने का विचार ही लक्षणा का बीज है। यदि ऐसा न हो, तो 'गङ्गा में घोष है' यहाँ घोष पद में मकर अर्थ में लक्षणा हो जाय क्योंकि, उतने से भी तो अन्वय की अनुपपत्ति का तो परिहार हो ही जाता है। इसी प्रकार 'गङ्गा में पापी जाता है' में केवल अन्वय की अनुपपत्ति की लक्षणा का बीज मानने पर गङ्गा पद का नरक अर्थ में लक्षणा हो सकती है लेकिन यह वक्ता को कथमपि अभीष्ट न होगा।[१३९]

इस प्रकार डॉ० शोभाकन्त मिश्र के शब्दों में[१४०] यदि परिष्कृत रूप में लक्षणा के लक्षण पर विचार करें तो उसका लक्षण इस प्रकार होगा कि मुख्य अर्थ में अथवा केवल तात्पर्य में किसी प्रकार की बाधा अर्थात् अनन्विति होने पर मुख्यार्थनिष्ठ तथा परम्परया उसके वाचक शब्द पर आरोपित जो गौणी शक्ति रूढ़िवश अथवा विशिष्ट प्रयोजनवश उस मुख्य अर्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ का बोध कराती है, उसे लक्षणा कहते हैं। इस प्रकार लक्षणा वृत्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित तीन तत्त्व प्राप्त होते हैं—

* मुख्य अर्थ में अथवा तात्पर्य में बाधा।
* मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ से योग।
* रूढि अथवा प्रयोजन।

इस प्रकार तात्पर्यार्थ की बाधा को लक्षणा का प्रवृत्तिनिमित्त, मुख्य अर्थ के योग को लक्षणा का प्रयोजक तथा रूढि एवं प्रयोजन को लक्षणा की सार्थकता का सम्पादक कहा गया है। लक्षणा का निरूपण करते हुए आचार्य विश्वनाथ कहते हैं कि मुख्यार्थ के बाध होने पर रूढि अथवा किसी विशेष प्रयोजन का सूचन करने के लिए, मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ का ज्ञान जिस शक्ति के द्वारा होता है, उसे लक्षणा कहते हैं। यह शक्ति 'अर्पित' अर्थात् कल्पित है।[१४१]

आचार्य मम्मट ने लक्षणा के छः भेदों का प्रतिपादन काव्यप्रकाश में किया है।[१४२] सर्वप्रथम इन्होंने लक्षणा के शुद्धा तथा गौणी दो भेदों की स्वीकृति देते हुए शुद्ध लक्षणा के चार भेद किये हैं— उपादान लक्षणा, लक्षणलक्षणा[१४३], सारोपा तथा साध्यवसाना तथा गौणी के दो भेद किये हैं सारोपा एवं साध्यवसाना।[१४४] मम्मट ने उपचार[१४५] को लक्षणा के शुद्धा एवं गौणी का भेदक तत्त्व माना है।[१४६] जहाँ उपचार होता है वहाँ गौणी एवं उपचार रहित शुद्धा लक्षणा कहलाती है। सारोपा एवं साध्यवसाना ये दोनों भेद गौणी के भी हैं और शुद्धा के भी। परन्तु इनमें प्रमुख अन्तर यह है कि जहाँ ये भेद गौणी में सादृश्य सम्बन्ध के कारण होते हैं वहीं शुद्धा में ये भेद सादृश्येतर कार्य-कारणादि सम्बन्ध के कारण होते हैं।[१४७] इस प्रकार मम्मट प्रतिपादित लक्षणा के छः भेदों को सोदाहरण निम्न प्रकार से देखा जा सकता है।

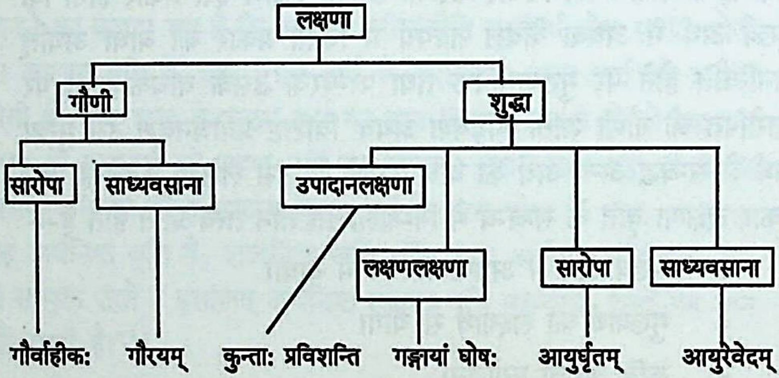

लक्षणा के विषय में अन्य काव्यशास्त्रियों ने भी भेद प्रभेद सहित उसके स्वरूप पर पर्याप्त विचार किया है, किन्तु विस्तार भय से यहाँ उनका सम्पूर्ण विवेचन अप्रासङ्गिक होगा। यदि काव्यशास्त्रियों की लक्षणाविषयक सम्पूर्ण विवेचना का एकत्र अवलोकन करना है तो उसे ठाकुर दत्त जोशी के 'संस्कृत काव्यशास्त्र में लक्षणा का उद्भव तथा विकास' नामक शोध-प्रबन्ध में किया जा सकात है जो पुस्तक के रूप में भी प्राकाशित हो चुकी है।[१४८]

१.२.३ व्यञ्जनावृत्ति

अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्यवृत्ति के सन्दर्भ में यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि वे दर्शन से काव्यशास्त्र में अवतरित हुयीं किन्तु काव्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण शब्दवृत्ति व्यञ्जना को स्वतन्त्र वृत्ति के रूप में प्रतिष्ठापित करने का श्रेय काव्यशास्त्रियों को विशेषकर ध्वनिवादियों को है। वस्तुतः व्यञ्जनावृत्ति की उद्भावना वैयाकरणों ने पहले ही कर दी थी परन्तु काव्यशास्त्रियों ने उसे एक स्वतन्त्र वृत्ति के रूप में स्थापित कर अपेक्षित विस्तार प्रदान किया।

व्यञ्जनावृत्ति की सामर्थ्य असीम है। अभिधा एवं लक्षणा शब्दवृत्तियों की तरह इसके कार्यक्षेत्र की सीमा निर्धारित नहीं है। अभिधावृत्ति एक सीमा तक पहुँचकर रुक जाती है जहाँ से लक्षणा का व्यापार आरम्भ होता है, जो अभिधेयार्थ से सम्बद्ध कुछ आगे तक अर्थ का बोध करा लेने के बाद विरत हो जाती है। अभिधा से बोध्य अर्थ में अन्वय की बाधा नहीं हो तो लक्षणा की प्रवृत्ति ही नहीं होगी लेकिन व्यञ्जना की प्रवृत्ति सर्वत्र हो सकती है। व्यञ्जना वृत्ति मुख्य रूप से व्यञ्जक शब्दों से व्यङ्ग्यार्थ का बोध कराती है। लेकिन उसमें वाचक एवं लाक्षणिक शब्दों से भी व्यङ्ग्यार्थ प्रतिपादन की पूर्ण सामर्थ्य विद्यमान रहती है। इस प्रकार इसमें तीनों ही (वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ) अर्थों से व्यङ्ग्य प्रतिपादन की अद्भुत क्षमता होती है। अन्य शब्दवृत्तियों से व्यञ्जना वृत्ति का वैशिष्ट्य इस बात में भी है कि जहाँ अभिधा केवल शब्दनिष्ठ होती है एवं लक्षणा प्रत्यक्षतः अर्थनिष्ठ होकर उसके वाचक शब्द पर परम्परया आरोपित होती है वही व्यञ्जनावृत्ति शब्दनिष्ठ भी होती है और अर्थनिष्ठ भी। इससे व्यञ्जनावृत्ति की व्यापकता एवं भाषिक बोध में उसकी उपादेयता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। व्यञ्जनावृत्ति को परिभाषित करते हुए विश्वनाथ ने लिखा है कि अपना-अपना अर्थ बोधन करके अभिधा आदिक वृत्तियों के शान्त हो जाने पर जिससे अन्य अर्थ का बोधन होता है, वह शब्द में तथा अर्थादिक में रहने वाली वृत्ति व्यञ्जना वृत्ति कहलाती है।[१४९] यह व्यञ्जना शब्दनिष्ठ, अर्थनिष्ठ, प्रकृतिनिष्ठ, प्रत्ययनिष्ठ तथा उपसर्गादिनिष्ठ होने से कई प्रकार

की होती है एवं व्यञ्जना, ध्वनन, गमन, प्रत्यायन, अवगमन आदि कई नामों से व्यवहृत होती है।[१५०]

काव्यशास्त्रियों ने व्यञ्जना के दो प्रमुख भेदों, शाब्दी व्यञ्जना एवं आर्थी व्यञ्जना का सविस्तार विवेचन प्रस्तुत किया है। शाब्दी व्यञ्जना अभिधामूला एवं लक्षणामूला के भेद से दो प्रकार की, जबकि आर्थी व्यञ्जना वक्ता, बोद्धा आदि के वैशिष्ट्य से दस प्रकार की होती है। अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना को परिभाषित करते हुए मम्मट ने लिखा है कि संयोग आदि के द्वारा अनेकार्थक शब्दों के (किसी एक अर्थ में) नियन्त्रित हो जाने पर उससे भिन्न अवाच्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला व्यापार व्यञ्जना (अभिधामूला) कहलाता है।[१५१] संयोग विप्रयोग आदि संख्या में दस हैं जो अनेकार्थक शब्द के अर्थ का निर्णय न होने पर विशेष अर्थ में निर्णय कराने के कारण होते हैं। इन्हें मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश की स्वोपज्ञवृत्ति में भर्तृहरि के वाक्यपदीय से उद्धृत किया है—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।।[१५२]

लक्षणामूला व्यञ्जना का विशद विवेचन आचार्य मम्मट ने लक्षणावृत्ति के प्रयोजन के प्रतिपादन के प्रसङ्ग में किया है।[१५३] आर्थी व्यञ्जना के विषय में मम्मट का कथन है कि वक्ता, बोद्धव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्यसन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल, चेष्टादि के वैशिष्ट्य से सहृदयों को अन्यार्थ की प्रतीति कराने वाला जो व्यापार होता है, वह आर्थी व्यञ्जना कहलाती है।[१५४] इस प्रकार, मम्मट ने काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास एवं तृतीय उल्लास में व्यञ्जनावृत्ति पर व्यापक रूप से विचार किया है। मम्मट के परवर्ती आचार्यों में विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित एवं पण्डितराज जगंन्नाथ आदि ने भी व्यञ्जनावृत्ति का सम्यक् विवेचन अपने-अपने ग्रन्थों में किया है।

निष्कर्षतः भाषिक बोध के व्यापक स्वरूप और उसकी अलग-अलग कोटियों के विश्लेषण में अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना इन तीन शब्द

वृत्तियों की परिकल्पना कर आचार्यों ने अर्थबोध की प्रक्रिया के स्पष्टीकरण का वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत किया है। शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करने में इन वृत्तियों की महती भूमिका है।

सन्दर्भ

१. गायत्रेण प्रति मिमीते अर्क मर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्।
वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाऽक्षरेण मिमते सप्त वाणीः॥
ऋग्० १/१६४/२४

२. इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥
वही, १/१६४/३५

३. गौरीर्मिमायसलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टपदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्॥
वही, १/१६४/४१

४. चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥
वही १/१६४/४५

५. यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि।
यो रत्नधा वसुविद् यः सुदत्रः सरस्वती तामिह धातवे कः॥
वही १/१६४/४९

६. सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि।
वही १०/७१/२

७. यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते॥
वही १०/७१/३

८. उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वमस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥
वही १०/७१/४

९. उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्॥
वही १०/७१/५

१०. अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा।।

वही १०/१२५/१

११. अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भुरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्।।

वही १०/१२५/३

१२. अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे।
ततो वितिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं सां वर्ष्मणोपस्पृशामि।।

वही १०/१२५/७

१३. अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
पुरो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव।।

वही १०/१२५/८

१४. तमह्वन् भुरिजोर्धिया संवसानं विवस्वतः। पतिं वाचो अदाभ्यम्।

वही ९/२६/४

१५. तदद्य वाचः प्रथमं मसीय येनासुराँ अभि देवा असाम। ऊर्जाद उज यज्ञियासः पञ्च जना मम होत्रं जुषध्वम्।।

वही १०/५३/४

१६. देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति। सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु।।

वही ८/१००/११

१७. इन्द्रं मित्रं वरूणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।

वही १०/१६४/४६

१८. समुद्रोऽसि विश्वव्यचा अजोऽस्येकपादहिरसि बुध्न्यो वागस्यैन्द्रमसि सदोऽयृतस्य द्वारौ। यजु० ५/३३

१९. चिदसि मनोसि धीरसि दक्षिणासि क्षत्रियासी यज्ञियास्यदितिरस्युभयतः शीर्ष्णी।

वही ४/१९

२०. वाग्वै विश्वकर्म ऋषिः।

वही १३/५८

२१. वाचा हीदं सर्वं कृतम्। शत० ब्रा० ८/१/२/९

२२. त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तष्ठे तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्त्रः।

अथर्व० ९/१०/१९

२३. स्तनयित्नुस्ते वाक् प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यां दिवि। तां पशव उप जीवन्ति सर्वे तेनो सेषमूर्जं पिपर्ति। वही ९/१/२०

२४. इयं या परमेष्ठिनी वाग् देवी ब्रह्मसंशिता। ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः॥

वही १९/९/३

२५. वाग्वै ब्रह्म।–एते० ब्रा० ६/३, शत० ब्रा० २/१/४/१०

२६. वाग्वै ब्रह्म सुब्रह्म चेति, वाग्वै सुब्रह्मण्या। एते० ब्रा० ६/३

२७. ब्रह्मैव वाचः परमं व्योम। तै०ब्रा० ३/९/५/५

२८. या सा वाग् ब्रह्मैव तत्। जै०उ०ब्रा० २/१३/२

२९. वाग्ब्रह्म - गो०ब्रा० पू० २/१

३०. वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म, बृ० उ० ४/१

३१. यद्विद्योतते यद्विधूनते तत्स्नयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक्। वही, १/१

३२. द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे। क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥ श्वेता० ५/१

३३. स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्। स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमा। स एव सर्वं यद्भुतं यच्च भांव्यं सनातनम्। कैवल्य, १/८-९

३४. मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्। मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम्॥ वही, १/१९

३५. अथ गौरित्यत्र कः शब्दः। किं यत्तत्सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाण्यर्थरूपं शब्दः। नेत्याह। द्रव्यं नाम तत्। यत्तर्हि तदिङ्गितं चेष्टितं निमिषितमिति स शब्दः। नेत्याह। क्रिया नाम सा। यत्तर्हि तच्छुक्लो नीलः कपिलः कपोत इति स शब्दः। नेत्याह। गुणो नाम सः। यत्तर्हि तद्भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वच्छिन्नं सामान्यभूतं स शब्दः। नेत्याह। आकृतिर्नाम सा। कस्तर्हि शब्दः। येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः। महा० पस्पश०

३६. वैयाकरणा वर्णव्यतिरिक्तस्य पदस्य वाक्यस्य वा वाचकत्वमिच्छन्ति। वर्णानां

प्रत्येकं वाचकत्वे द्वितीयादिवर्णोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गात्। आनर्थक्ये तु प्रत्येकमुत्पत्तिपक्षे यौगपद्येनोत्पत्त्यभावात अभिव्यक्ति पक्षे तु क्रमेणैवाभिव्यक्त्या समुदायाभावादेकस्मृत्युपारूढानां वाचकत्वे सरो रस इत्यादावर्थप्रतिपत्यविशेषप्रसङ्गात्तद् व्यतिरिक्तः स्फोटो नादाभिव्यङ्ग्यो वाचको विस्तरेण वाक्यपदीये व्यवस्थापितः।

वही, प्रदीप टीका

३७. अथवा प्रतीत पदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। तद्यथा-शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीः, शब्दकार्ययं माणवक इति ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्च्यते। तस्माद् ध्वनिः शब्दः। महा० पस्पश०।

३८. ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते। अल्पो महाँश्च केषाञ्चिदुभयं तत्स्वभावतः।महा० १/१/७०

३९. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।। वा० प० १/१

४०. शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायो विदो विदुः। छन्दोभ्य एव प्रथमेतद् विश्वं व्यवर्तत। वही १/१११

४१. वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्। अनेकतीर्थ भेदायास्त्रैय्या वाचः परं पदम्।। वही, १/१३३

४२. षड्जादिभेदः शब्देन व्याख्यातो रूप्यतो यतः। तस्मादर्थविधाः सर्वाः शब्दमात्रासु निश्चिताः।। वही, १/११०

४३. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते। वही, १/११४

४४. वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती। न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी।। वही, १/११५

४५. श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्दः। वै० सू० २/२/२१

४६. शब्दोऽम्बरगुणः श्रोत्रग्राह्यः, क्षणिकः कार्यकारणोभयविरोधी संयोगविभागशब्दजः प्रदेशप्रवृत्तिः समानासमानजातीयकारणः।

वही, प्र०पा०भा० पृ० ६९२

४७. श्रोत्रग्राह्ये गुणः शब्दः। आकाशमात्रवृत्तिः। स द्विविधः-ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्चेति। तत्र ध्वन्यात्मको भेर्यादौ। वर्णात्मकः संस्कृतभाषादिरूपः।-त० सं०, पृ० ८९

४८. तत्र वर्णलक्षणस्योत्पत्तिरात्ममनसोः संयोगात् स्मृत्यपेक्षाद् वर्णोच्चारणेच्छा तदनन्तरं प्रयत्नः, तमपेक्षमाणादात्मवायुसंयोगाद् वायौ कर्म जायते। स चोर्ध्वं गच्छन् कण्ठादीनभिहन्ति, ततः स्थानवायुसंयोगोपेक्षमाणात् स्थानाकाशसंयोगाद् वर्णोत्पत्तिः।
वै०सू०२/२/२१, प्र०पा०भा०, पृ० ६९५

४९. अवर्णलक्षणोऽपि भेरीदण्डसंयोगापेक्षाद् भेर्याकाशसंयोगादुत्पद्यते। वेणुपर्वविभागाद् वेण्वाकाशविभागाच्च, शब्दाच्च संयोगविभागनिष्पन्नाद् वीचीसन्तानवच्छब्दसन्तान इति। वही

५०. सतो लिङ्गाभावात्। —वै० सू० २/२/२६

५१. अथ गौरित्यत्र कः शब्दः। गकारौकार विसर्जनीया इति भगवान् उपवर्षः।
मी०सू० १/१/५, शा०भा०

५२. श्रोत्रग्रहणे ह्यर्थे लोके शब्दशब्दः प्रसिद्धः। ते च श्रोत्रग्रहणाः। वही

५३. पूर्ववर्णजनितसंस्कारसहितोऽन्त्यो वर्णः प्रत्यायकः। वही

५४. अक्षरेभ्यः संस्काराः, संस्कारादर्थप्रतिपत्तिरिति सम्भवत्यर्थपतिपत्तावक्षराणि निमित्तम्। वही

५५. तस्मादक्षराण्येव पदम्। वही

५६. वाङ्मयानीह शास्त्राणि वाङ्निष्ठानि तथैव च। तस्माद्वाचः परं नास्ति वाग्घि सर्वस्य कारणम्।, ना०शा० १४/३

५७. नन्वकारादिवर्णानां समुदायोऽभिधेयवान्। अर्थप्रतीतये गीतः शब्द इत्यभिधीयते।।— का०ल० ६/८

५८. स कूटस्थोऽनपायी च नादादन्यश्च कथ्यते। मन्दाः साङ्केतिकानार्थान् मन्यन्ते पारमार्थिकान्।।
विनश्वरोऽस्तु नित्यो वा सम्बन्धोऽर्थेन वा सता। नमोऽस्तु तेभ्यो विद्वद्भ्यो प्रमाणं येऽस्य निश्चितौ।। वही, ६/१४-१५

५९. द्रव्यक्रियाजातिगुणभेदात्ते च चतुर्विधाः। यदृच्छाशब्दमित्यन्ये डित्यादिं प्रतिजानते।।
वही ६/२१

६०. ईयं च ईदृशा वर्णा ईदृगर्थाभिधायिनः। व्यवहाराय लोकस्य प्रागित्थं समयः कृतः। वही, ६/२१

६१. इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा। वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते। का० द० १/३

६२. इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्। यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते। वही १/४

६३. अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः अर्थ सम्प्रत्याययिष्यामि शब्दः प्रयुज्यते। म०भा० १/१/४३

६४. सर्वो हि शब्दोऽर्थप्रत्यायनार्थं प्रयुज्यते।—मी०सू० १/३/८, तन्त्रवार्तिक

६५. सर्वे शब्दाः स्वेनार्थेन भवन्ति स तेषामर्थः।–म०भा० ५/१/११९

६६. शब्दश्च शब्दाद् बहिर्भूतः। अर्थोऽबहिर्भूतः।–म०भा० १/१/६६

६७. पा०सू०, १/१/६७

६८. वही, ४/२/३३

६९. अस्त्यन्यद् रूपात् शब्दस्येति। किं पुनस्तत्? अर्थः। शब्देनोचारितेनार्थो गम्यते। गामानय दध्याशानेति, अर्थ आनीयते अर्थश्च भुज्यते। म०भा० १/१/६७

७०. लक्षणाद्व्यवतिष्ठन्ते पदार्था न तु वस्तुतः। उपकारात् स एवार्थः कथंचिदनुगम्यता। वा०प० २/४/३७, इस पर पुण्यराज की टीका भी द्रष्टव्य

७१. उद्धृत-मिश्र, शोभाकान्त, शब्दार्थ-तत्त्व, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पटना, प्रथम संस्करण, १९८६, पृ० ४२-४३

७२. म० भा० ५/१/११९

७३. वही, प्रदीप एवं उद्योत टीका

७४. यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते। तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम्। –वा० प० २.३३०

७५. अयमस्य पदस्यार्थ इति केचित् स तेन वा। योऽर्थः प्रतीयते यस्मात् स तस्यार्थ इति स्मृतिः। न्या० म०, आ० पृ० ६४

७६. तत्र योऽन्वेति यं शब्दमर्थस्तस्य भवेदसौ।–श्लो० वा० वाक्याधिकरण, का० १६०

७७. का० प्र०, २/८

७८. "यद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव तथाप्यानन्त्याद् व्यभिचाराच्च तत्र सङ्केतः कर्तुं न युज्यत इति, गौः शुक्लः चलो डित्थः इत्यादीनां विषयविभागो न प्राप्नोति च, तदुपधावेव सङ्केतः।" —का०प्र० २/८, स्वोपज्ञवृत्ति

७९. "चतुष्टयीशब्दानां प्रवृत्तिः जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः, यदृच्छाशब्दाश्चतुर्धा।" –म०भा०, आह्निक-२

८०. "सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा।" –का०प्र० २/८

८१. "हिमपय: शङ्खाद्याश्रयेषु परमार्थतो भिन्नेषु शुक्लादिषु यद्वशेन शुक्ल: इत्याभिन्नाभिधानप्रत्ययोत्पत्तिस्तत् शुक्लत्वादिसामान्यम्। गुडतण्डुलादिपाकादिष्वेवमेव पाकत्वादि। बालवृद्धशुकाद्युदीरितेषु डित्थादिशब्देषु च, प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु डित्थाद्यर्थेषु वा डित्थत्वाद्यस्तीति सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्यन्ये।

—वही, २/८, स्वोपज्ञवृत्ति

८२. न्या० सू० २/२/६८

८३. का० प्र० २/८, स्वोपज्ञवृत्ति

८४. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च।

वाक्यस्य शेषाद् विवृत्तेर्वदन्ति सान्निध्यत: सिद्धपदस्य वृद्धा:।। –श०श० प्र०, का० २०

८५. उद्धृत, म० भा० पस्पश०

८६. "सिद्धे शब्दे अर्थसम्बन्धे च। नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्ध:।" –म०भा० पस्पश०

८७. "अनित्येऽर्थे कथं सम्बन्धस्य नित्यतेति चेद् योग्यतालक्षणत्वात् सम्बन्धस्य। तस्याश्च शब्दाश्रयत्वात् शब्दस्य च नित्यत्वात्। म० भा० पस्पश० प्रदीप

८८. "सम्बन्धस्य न कर्तास्ति शब्दानां लोकवेदयो:। शब्दैरेव हि शब्दानां सम्बन्ध: स्यात्कृत: कथम्।"–वा०प० १/२६, स्वोपज्ञवृत्ति

८९. "सम्बन्धो हि नित्य:। स हि नेदं प्रथमतया शक्य: कर्तुमर्थदिशनस्याशक्यकर्तव्यत्वात्, किन्त्वौत्पत्तिक: स्वभावसिद्धोऽनादि: प्राप्ताऽविच्छेद इति नित्य:।" –हरिवृषभ, वा० प० १/२३

९०. "सम्बन्धस्यापि व्यवहारपरम्परयाऽनादित्वान्नित्यता" –म०भा० परस्पश०, प्रदीप टीका

९१. "नित्या: शब्दार्थ सम्बन्धास्तत्राम्नाता महर्षिभि:। सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभि:।।" – वा० प० १/२३

९२. मी० सू० १/१/५

९३. "उद्धृत, म० भा० पस्पश"

९४. म० भा०, २/१/१

९५. "कार्यकारणभावेन योग्यभावेन च स्थिता:।"–वा०प० १/२५

९६. पा० सू० ४/३/१२०

९७. वही, ५/१/६३

९८. वही,. ५/१/११७

९९. "इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा। अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा।" वा०प० पदकाण्ड, सम्बन्धसमुद्देश्य, का० ३२

१००. "शब्दः करणमर्थस्य स हि तेनोपजन्यते। तथा च बुद्धिविषयादर्थाच्छब्दः प्रतीयते।।" वही, का० ३७

१०१. "न सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययः" –न्या० सू० १/२/५६

१०२. "सामयिकः शब्दार्थसम्प्रत्ययो न स्वाभाविकः।" वही, १/२/५७, न्या० भा०

१०३. "सामयिकः शब्दार्थ प्रत्ययः" –वै० सू० ७/२/२०

१०४. "सामयिक इति। समय ईश्वरसङ्केतः-अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इत्याकारः, यः शब्दो यस्मिन्नर्थे भगवता सङ्केतितः स तमर्थं प्रतिपादयति तथा च शब्दार्थयोरीश्वरेच्छैव सम्बन्धः स एव समयस्तदधीन इत्यर्थः।" वही, उपस्कारभाष्य

१०५. "शब्दार्थयोः समयापरनामा वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः", न्या० म०, आ० ५

१०६. "ननु सति स्वभाविके सम्बन्धे व्युत्पन्नवदव्युत्पन्नस्यापि बोधः स्यात्। नहि अग्निरविदितशक्तिर्न दहति-इत्यत्र प्रयत्नादेः स्वभाविकेऽर्थप्रत्यायकत्वे सत्यपि यथा इन्द्रियार्थसन्निकर्षपेक्षा तथापि संकेतग्रहवाचिकस्यैव बोधकत्वमित्याह।" –जयतीर्थकृत न्यायसुधा से वैयाकरणभूषणसार में उद्धृत, पृ० १८९

१०७. "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्।" –मी०सू० १/१/५

१०८. "औत्पत्तिक इति नित्यं ब्रूमः।" – वही, शा० भा०

१०९. "यो ह्यत्र व्यपदेश्यः सम्बन्धस्तमेकं न व्यपदिशति भवान्प्रत्याय्यस्य प्रत्यायकस्य च यः संज्ञासंज्ञिलक्षण इति।" वही

११०. वही

१११. का० ल०, १/१६

११२. का० द०, १/१६

११३. का० सू० १

११४. "ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्यास्पदचतुष्टयम्।" यस्याः सूक्ष्मादिभेदेन वाग्देवी तामुपास्महे। —सरस्वतीकण्ठाभरणम् १.१

११५. "वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ। – रघुवंश १/१
११६. "गिरा-अरथ जल-बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न। बन्दऊँ सीता-राम पद जिन्हहिं परमप्रिय खिन्न।।" –रा०मा०बा० का०, १८ वाँ दोहा
११७. "अत एव नागृहीतवृत्तिकस्य शाब्दबोधः।"–परमलघुमञ्जूषा, पृ० १२
११८. "स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा।"–का० प्र० २/१
११९. "वाच्यादयः तदर्थाः स्युः"–वही, २/२
१२०. "तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्।"–वही, २/३
१२१. वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः। व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ताः स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः।।–सा० द० २/३
१२२. "इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।"–का०प्र० १/४
१२३. "सा च वित्तिस्त्रिधा शक्तिर्लक्षणा व्यञ्जना च।" –वै०सि०प०ल०म०, शक्तिनिरूपण, पृ० १३
१२४. "शब्दस्य च मुख्येन लाक्षणिकेन वाभिधाव्यापारेणार्थावगतिहेतुत्वमिति मुख्य लाक्षणिकयोरभिधाव्यापारयोरत्र विवेकः क्रियते।"–अभि० वृ० मा० पृष्ठ सं० १
१२५. इत्येतदभिधावृत्तं दशाधाऽत्र विवेचितम्। – वही, पृ० ७२
१२६. शब्दव्यापारतो यस्य प्रतीतिस्तस्य मुख्यता। अर्थावसेयस्य पुनर्लक्ष्यमाणत्वमुच्यते।। –वही, पृ० २
१२७. "साक्षात्सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः।" –का० प्र० २/७
१२८. "स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते।" –वही २/८
१२९. "तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाऽभिधा" –सा० द० २/४
१३०. "शक्त्या प्रतिपादकत्वमभिधा।", वृ० वा०, पृ० १
१३१. सा त्रिधा-रूढिर्योगो योगरूढिश्च। वही
१३२. "अखण्डशक्तिमात्रेणैकार्थप्रतिपादकत्वं रूढिः।" –वही
१३३. अवयवशक्तिमात्रसापेक्षं पदस्यैकार्थप्रतिपादकत्वं योगः।" – वही
१३४. "अवयवसमुदायोभयशक्तिसापेक्षमेकार्थप्रतिपादकत्वं योगरूढिः।" –वही, पृ० ७
१३५. "सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधा व्यापारः।" –का०प्र०- ५/४७, स्वोपज्ञवृत्ति
१३६. "विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे।"–ध्व०लो०लो० १/४

१३७. "मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्। अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया।।" –का० प्र० २/९

१३८. "सा हिं आरोपिता मुख्यार्थव्यवहितलक्ष्यार्थविषयकत्वात् शब्दे कल्पिता, साक्षात्सम्बन्धेन मुख्यार्थनिष्ठा परम्परासम्बन्धेन तु शब्दनिष्ठेत्यर्थः, क्रियाव्यापाररूपा चेति सूत्रार्थः।" –का०प्र० २/९, बा०बो०टी०, पृ० ४०

१३९. "अन्वयानुपपत्तिप्रतिसन्धानञ्च लक्षणाबीजम्। वस्तुतस्तु तात्पर्यानुपपत्तिप्रतिसन्धानमेव तद्बीजम्। 'गङ्गायां घोषः इत्यादौ घोषादि पदे एव मकरादिलक्षणापत्तिस्तावताऽप्यन्वयानुपपत्तिपरिहारात्। 'गङ्गायां पापी गच्छति' इत्यादौ गङ्गा पदस्य नरके लक्षणापत्तेश्च।"–वै०सि०प०ल०म०, लक्षणा निरूपण, पृ० ६३

१४०. उद्धृत-मिश्र, शोभाकान्त, शब्दार्थ-तत्त्व, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, प्र० सं० १९८६, पृ० ३४६

१४१. "मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते। रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता।" –सा० द० २/५

१४२. "लक्षणा तेन षड्विधा।" –का० प्र० २/१/२

१४३. "स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्। उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा।"–का०प्र० २/९

१४४. "सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा। विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका।।" – वही, २/११

१४५. "उपचारो हि नाम अत्यन्तं विशकलितयोः पदार्थयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्।" – उद्धृत, का० प्र० २.१०, विश्वेश्वर कृत हिन्दी व्याख्या, पृ० ५९

१४६. "उभयरूपा चेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्त्वात्।" –वही-२.९, स्वोपज्ञवृत्ति

१४७. "भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा। गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ।।" – वही, २/१२

१४८. जोशी, ठाकुरदत्त, संस्कृत काव्यशास्त्र में लक्षणा का उद्भव तथा विकास, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर १९८६

१४९. "विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः। सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च।।" –सा०द० २/१२

१५०. असौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यञ्जनप्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः। –ध्व०लो०लो० १/४, पृ० ६०

१५१. अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते। संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम्।।
–का० प्र०, २/१९

१५२. वही, स्वोपज्ञवृत्ति

१५३. दृष्टव्य, का० प्र०, २/१४-१८

१५४. "वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्
योऽर्थस्यान्यार्थधीर्हेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा।।" –का०प्र०, ३/२१-२२

द्वितीय अध्याय

काव्यशास्त्रेतर शास्त्रों में तात्पर्यवृत्तिविषयक विचार

वृतु वर्तने धातु से क्तिन् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न 'वृत्ति' शब्द का शाब्दिक अर्थ सत्ता या किसी दशा विशेष में रहना है।[1] वक्ता द्वारा उच्चरित शब्द के अर्थ को श्रोता इसलिए समझ पाता है, क्योंकि उस शब्द में एक वृत्ति रहती है जिसके द्वारा वह शब्द अपने अर्थ को अभिव्यक्त करने में समर्थ हो पाता है। इस वृत्ति को शाब्दिकों ने शब्दवृत्ति, शब्दव्यापार, शब्दशक्ति आदि कई नामों से अभिहित किया है। ये वृत्तियाँ सामान्यतः तीन प्रकार की मानी गयी हैं— अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना। इनमें अभिधावृत्ति की स्वीकृति तो सर्वमान्य है किन्तु लक्षणा और व्यञ्जना को लेकर वैमत्य दृष्टिगोचर होता है। शाब्दबोध में इन वृत्तियों की महती भूमिका स्वीकृत है। नागेश भट्ट कहते हैं कि जबतक वृत्तिज्ञान नहीं होगा, तबतक शाब्दबोध सम्भव नहीं होगा, क्योंकि शाब्दबोध के लिए शब्दविशेष एवं उस शब्दविषेष में रहने वाली वृत्तिविशेष का ज्ञान आवश्यक होता है।[2] चूँकि व्यवहार में प्रयुक्त होने वाली भाषा वाक्य के रूप में होती है अतः उस वाक्य से वाक्यार्थबोध के लिए भी एक वृत्ति की आवश्यकता होती है, जिसे कतिपय आचार्यों ने तात्पर्यवृत्ति के नाम से अभिहित किया है। यद्यपि इस वृत्ति की स्वीकृति वाक्यार्थबोध के लिए सार्वभौमिक नहीं है तथापि तात्पर्यविषयक चर्चा लगभग सभी सम्प्रदायों में प्राप्त होता है। जिन्होंने इसे एक स्वतन्त्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया है, उन्होंने तो इस पर विचार-विमर्श किया ही है लेकिन जो लोग इसे

एक स्वतन्त्र वृत्ति के रूप में स्वीकार करने के पक्षधर नहीं हैं उन्होंने वाक्यार्थ के सहकारी कारण के रूप में इसका प्रतिपादन किया है। मीमांसकों में जिन्होंने इसे एक स्वतन्त्र वृत्ति के रूप में स्वीकार किया है उन्हें बाद के आचार्यों ने अभिहितान्वयवादी भाट्टमतानुयायी बतलाया है लेकिन दुर्भाग्यवश उनके वे ग्रन्थ सम्प्रति अनुपलब्ध हैं। सम्प्रति उपलब्ध भाट्टमीमांसकों के ग्रन्थों में तात्पर्य का विवेचन एक वृत्ति के रूप में नही बल्कि वक्ता के आशय के रूप में किया गया है। वैयाकरणों में नागेश भट्ट ने तात्पर्यविषयक विचार अवश्य किया है लेकिन उन्होंने इसका एक वृत्ति के रूप में नहीं बल्कि वाक्यार्थबोध में आकाङ्क्षा, योग्यता एवं सन्निधि के साथ एक सहकारी कारण के रूप में वर्णन किया है। नैयायिकों में प्राचीन नैयायिक जयन्त भट्ट ने जहाँ तात्पर्य को एक वृत्ति के रूप में स्वीकार किया है वही नव्य नैयायिक विश्वनाथ पञ्चानन ने इसे वाक्यार्थ के सहायक ज्ञान के रूप में स्वीकार किया है।

यद्यपि काव्यशास्त्रियों के उद्धरणों से पता चलता है कि तात्पर्यविषयक विचार अभिहितान्वयवादी भाट्ट मीमांसकों का है परन्तु शोधार्थी की दृष्टि में भाट्टमीमांसा का कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं आ पाया जिसमें तात्पर्यवृत्ति का सविस्तर विवेचन किया गया हो। मीमांसकों में भाट्टमतानुयायी पार्थसारथि मिश्र द्वारा श्लोकवार्तिक की टीका न्यायरत्नाकर में 'तात्पर्य' शब्द का नामोल्लेख किया गया है लेकिन उससे यह पता नहीं चलता है कि उसका प्रयोग उन्होंने वृत्ति के रूप में किया है या अर्थ के रूप में। भट्टसोमेश्वर ने न्यायसुधा में इसका नामोल्लेख व्यापार के रूप में अवश्य किया है परन्तु उन्होंने भी इस पर पर्याप्त चर्चा नहीं की है। गागाभट्ट, खण्डदेव आदि ने भी इस पर विचार विमर्श अवश्य किया है लेकिन वृत्ति के रूप में नही अपितु वक्ता के आशय के रूप में अर्थात् उन्होंने एक अर्थ के रूप में तात्पर्य (तात्पर्यार्थ) का विवेचन किया है। काव्यशास्त्रियों ने तात्पर्य को एक स्वतंत्र वृत्ति के रूप में स्वीकृति प्रदान की है। तात्पर्यवृत्तिविषयक विचार सर्वप्रथम ध्वनिवादी काव्यशास्त्रियों ने किया। यद्यपि उन्होंने इसकी चर्चा

व्यञ्जनावृत्ति की उद्भावना करने के प्रसङ्ग में इस वृत्ति के खण्डन हेतु की है तथापि काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम तात्पर्यवृत्ति की चर्चा का श्रेय तो उन्हें ही जाता है। इस पर विशद-विचार अग्रिम अध्याय में किया गया है। ध्वनिवादियों के तात्पर्यवृत्तिविषयक विचार पर कुमारिल भट्ट के अभिहितान्वयवादी सिद्धान्त का प्रभाव है। ध्यातव्य है कि स्वयं कुमारिल भट्ट ने वाक्यार्थ बोध में तात्पर्यवृत्ति की भूमिका को कण्ठतः स्वीकार नहीं किया है। कुमारिल भट्ट के बहुत बाद तक के भी अभिहितान्वयवादी भाट्टमीमांसकों के ग्रन्थों में तात्पर्यवृत्ति का नाम तक नहीं मिलता।

मीमांसा के सम्प्रति उपलब्ध ग्रन्थों में तात्पर्यवृत्ति का सङ्केत करने वाला कोई भी ऐसा ग्रन्थ नहीं है जो ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना से पूर्व का हो। यद्यपि तन्त्रवार्तिक की टीका न्यायसुधा में 'तात्पर्य' का नामोल्लेख एक व्यापार के रूप में अवश्य है परन्तु इसके लेखक सोमेश्वर भट्ट (१५वीं सदी का उत्तरार्द्ध) बहुत बाद के हैं। इससे पूर्व के भाट्टमीमांसकों के ग्रन्थो में वाक्यार्थ-प्रतीति का साधन लक्षणावृत्ति को माना गया है। यहाँ यह विचारणीय है कि तात्पर्यवृत्ति की कल्पना आखिर ध्वनिवादियों को कहाँ से मिली? इतना तो अवश्य है कि अभिहितान्वयवादी मीमांसा के किसी ग्रन्थ में इसकी उद्भावना ध्वनिवाद की स्थापना से पूर्व रही होगी जो आज संभवतः अनुपलब्ध है, लेकिन जब तक मीमांसा का कोई ऐसा ग्रन्थ न प्राप्त हो जाये जो ध्वनिवाद से पुराना होते हुए भी तात्पर्यवृत्ति का सङ्केत करता हो, हम किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते।

प्रस्तुत अध्याय में काव्यशास्त्र से पूर्व तात्पर्यवृत्ति के स्वरूप एवं उद्भावनाविषयक साक्ष्य-ग्रन्थ का अवलोकन करते हुए वाक्यार्थ का स्वरूप एवं वाक्यार्थबोध में तात्पर्यवृत्ति की भूमिका पर विचार विमर्श किया गया है।

२.१. तात्पर्य

२.१.१. तात्पर्य शब्द का अर्थ

'तत्परस्य भावः' इस विग्रह में तत्पर शब्द से ष्यञ् प्रत्यय द्वारा

तात्पर्य शब्द निष्पन्न होता है, जिसका सामान्य अर्थ वक्ता का अभिप्राय होता है। वाचस्पत्यम् के अनुसार तात्पर्य का प्रयोग तीन अर्थों में किया जाता है— वक्ता की इच्छा के अर्थ में, अभिप्राय में एवं तत्परता में।[३] तत्पर को परिभाषित करते हुए वाचस्पत्यम् में कहा गया है कि जो प्रवृत्ति व निवृत्ति का साधक होता है, वह तत्पर कहलाता है। वाक्यों में दो प्रकार के पदार्थों का प्रयोग किया जाता है— साध्य एवं सिद्ध। इन्हें भव्य एवं भूत के नाम से भी अभिहित किया जाता है। इनमें भव्यार्थ को बताना अभीष्ट होता है, जबकि भूतार्थ उसके अङ्ग के रूप में कार्य करता है। इसी को वाचस्पत्यम् में कहा गया है कि भव्यार्थ का ज्ञान तो साक्षात् हो जाता है जबकि भूतार्थ का ज्ञान प्रशंसा एवं निन्दापरक वाक्यों के प्रशस्त एवं निन्दित पदों के स्वार्थप्रतिपादन के द्वारा होता है।[४] शब्दकल्पद्रुम के अनुसार तात्पर्य का अर्थ अभिप्राय है।[५] पारिजात कोश के अनुसार तात्पर्य का अर्थ है— आशय, उद्देश्य, वक्ता का आशय, तत्परता एवं व्याख्या।[६]

२.१.२. तात्पर्य विषयक शास्त्रीय मत

२.१.२.१. व्याकरण अभिमत तात्पर्य

वैयाकरणों में नव्यवैयाकरण नागेश भट्ट ने शब्दवृत्तियों पर वैयाकरणसिद्धान्त परमलघुमञ्जूषा नामक ग्रन्थ में विशद विवेचन किया है। इन्हें शक्ति, लक्षणा एवं व्यञ्जना नामक तीन वृत्तियाँ स्वीकार्य हैं। तात्पर्य को ये एक स्वतन्त्र वृत्ति न मानकर उसे शाब्दबोध के सहकारी कारणों आकाङ्क्षा, योग्यता एवं आसत्ति के साथ एक सहकारी कारण मानते हैं।[७]

नागेश भट्ट के अनुसार 'यह वाक्य अथवा पद इस अर्थ के लिये उच्चरित हो' ऐसी इश्वरेच्छा ही तात्पर्य है।[८] इसलिये तात्पर्य के रहने पर सभी शब्द सभी प्रकार के अर्थ के वाचक होते हैं, इस प्रकार के वैयाकरणों के न्याय में घट पद से पट अर्थ की प्रतीति नहीं होती है।[९] लोक में जहाँ शब्द के एक से अधिक अर्थ होते हैं वहाँ 'यह पद अथवा वाक्य इस अर्थ की प्रतीति के लिये हमारे द्वारा उच्चारित किया जा रहा है, इस प्रकार की

प्रयोक्ता की इच्छा ही तात्पर्य है।'[१०] लौकिक वाक्यों में इस तात्पर्य के नियामक प्रकरणादि ही होते हैं। इसलिये भोजन के प्रकरण में "सैन्धव लाओ" कहने पर सैन्धव पद से नमक अर्थ की प्रतीति होती है। जबकि युद्ध के अवसर पर इसी पद से अश्व अर्थ की प्रतीति होती है। वेदवाक्यों में तो ईश्वर से सम्बद्ध तात्पर्य से ही अर्थबोध होता है।[११]

यहाँ पर एक शङ्का उत्पन्न होती है कि जहाँ ज्ञानार्थक शब्द होते हैं वहाँ प्रकरणादि का गति के नियामक होने के कारण शक्ति से ही काम चल जायेगा, पुनः तात्पर्य ज्ञान की आवश्यकता क्या है? इसका उत्तर देते हुए नागेश भट्ट कहते हैं कि ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जहाँ द्वयर्थक शब्द का उच्चारण वक्ता करता है वहाँ उस शब्द के दोनों ही अर्थों में शक्ति होती है, लेकिन वक्ता का तात्पर्य किस अर्थ से है, यह श्रोता के अनुभव के विरुद्ध हो जाता है। इसलिये "पय आनय" कहने पर प्रकरण न जानने वाले के समक्ष यह प्रश्न स्वाभाविक ही होता है कि दूध अथवा पानी में से क्या लाया जाय।[१२]

इस प्रकार यदि हम नागेश भट्ट के तात्पर्य को संक्षेप में कहें तो यह पद इस अर्थ के बोध के लिये प्रयुक्त है, इस प्रकार की वक्ता की इच्छा ही तात्पर्य है और यह तात्पर्य भी शाब्दबोध में कारण होता है। तात्पर्य मूलतः वाक्य में, नानार्थ वाले शब्दों में और पदों में भी होता है। प्रकरण आदि ही तात्पर्य में नियामक होते हैं।

२.१.२.२. न्याय अभिमत तात्पर्य

उदयनाचार्य ने 'न्यायकुसुमाञ्जलि' नामक अपने ग्रन्थ में ईश्वर की सिद्धि हेतु आठ प्रकार के हेतुओं की चर्चा की है। इन आठ हेतुओं के आधार पर अनुमान द्वारा ईश्वर की सिद्धि होती है। ये आठ हेतु हैं—

१. कार्य, २. आयोजन, ३. धृति, ४. पद अर्थात् व्यवहार, ५. प्रत्यय अर्थात् प्रामाण्य, ६. श्रुति, ७. वाक्य तथा, ८. संख्या-विशेष।[१३]

कारिका में 'धृत्यादेः' इस अंश में आदि पद से विनाश अर्थ भी लिया जाता है। इस प्रकार ईश्वर-साधक अनुमानों की संख्या ९ हो जाती है।[१४]

इस कारिका की मीमांसक पक्ष में व्याख्या करते हुए उदयन ने 'कार्य' का अर्थ 'तात्पर्य' किया है। उनके अनुसार तात्पर्य-विषय में ही शब्द का प्रामाण्य होता है। इसलिये अर्थवाद वाक्यों में प्रशंसापरक वाक्य प्रवृत्ति के उद्देश्य से और निन्दा-वाक्य निवृत्ति के उद्देश्य से प्रवृत होते हैं अतः प्रवृत्ति और निवृत्ति ही उनका अर्थ माना जाता है। इसलिये वेद में जिसका तात्पर्य है अर्थात् वैदिक वाक्यों में जिस वक्ता का तात्पर्य निहित है, वही ईश्वर है।[१५]

इस प्रकार उदयनाचार्य के अनुसार इच्छा-विशेष ही तात्पर्य है और वेदस्थल में यह तात्पर्य ईश्वर का ही है अन्य किसी साधारण व्यक्ति का नहीं।[१६] उदयन का कहना है कि जिस प्रकार वैदिक-स्थलों में ईश्वर का इच्छा-विशेष तात्पर्य कहलाता है, उसी प्रकार लौकिक वाक्यों में भी वक्ता का इच्छा-विशेष ही तात्पर्य कहलाता है। लोक-व्यवहार में तात्पर्यवान् शब्द ही प्रमाण होता है, अतः यह कहा जाता है कि जो लौकिक शब्द हैं वे ही वैदिक शब्द भी तथा 'अहं' पद जिस प्रकार स्वतन्त्र उच्चारण का प्रतिपादक होता है, उसी प्रकार 'एकोऽहम् बहुस्याम्' इत्यादि वैदिक वाक्यों में प्रयुक्त 'अहं' पद भी स्वतन्त्रोच्चारक ईश्वर का ही प्रतिपादक है।[१७]

नव्य नैयायिक विश्वनाथ पञ्चानन ने तात्पर्यज्ञान को आकाङ्क्षा, योग्यता एवं आसत्ति के साथ शाब्दबोध का सहकारी कारण बतलाया है।[१८] उन्होंने तात्पर्य को परिभाषित करते हुए वक्ता की इच्छा को ही तात्पर्य कहा है।[१९] तात्पर्य को और स्पष्ट करते हुए वृत्ति में विश्वनाथ कहते हैं कि यदि तात्पर्य को शब्दबोध में कारण नहीं माना जाय तो सैन्धव कहने पर युद्ध के प्रसङ्ग में अश्व का तथा भोजन के प्रसङ्ग में लवण का जो श्रोता को ज्ञान होता है वह सम्भव नहीं हो सकेगा।[२०] जहाँ नानार्थक पदों से युक्त वाक्य का प्रयोग वक्ता द्वारा किया जाता है, वहाँ प्रकरणादि[२१] के माध्यम से श्रोता यह निश्चित करता है कि वक्ता का तात्पर्य क्या है? ध्यातव्य है कि प्रकरण, विशेषण, संयोग, विभाग आदि को तात्पर्यग्राहक माना गया है। विश्वनाथ कहते हैं कि यदि यहाँ पर यह कहा जाय कि चूँकि तात्पर्यज्ञान का निश्चय प्रकरणादि ही करते हैं अतः तात्पर्यज्ञान की अपेक्षा शाब्दबोध में उन्हें ही

कारण मानना चाहिए तो ऐसा कहना उचित नहीं रहेगा। उनके अनुसार प्रकरणादि तात्पर्यज्ञान के ग्राहक अवश्य हैं किन्तु प्रकरणादि विभिन्न प्रसङ्गों में भिन्न-भिन्न कारणों को शाब्दबोध में कारण मानने की अपेक्षा एक तात्पर्यज्ञान को ही कारण मानना लाघव होगा।[२२] इस प्रकार वैदिक स्थलों में भी तात्पर्यज्ञान के लिए ईश्वर की कल्पना की जाती है। अर्थात् वैदिक वाक्यों का जो तात्पर्य होता है उसे ईश्वर का तात्पर्य समझना चाहिए।[२३] यहाँ पर यदि निरीश्वरवादी यह कहें कि वैदिकस्थलों में जो वैदिक वाक्यों का तात्पर्य है वह अध्यापकों का तात्पर्य है तो यह उचित नहीं कहलायेगा क्योंकि वेद तो सृष्टि के आदि से ही विद्यमान हैं, जिस समय अध्यापकों की सत्ता ही नहीं थी। इस पर प्रतिपक्षी यदि यह कहें कि प्रलय तो होता ही नहीं और जब प्रलय ही नहीं होता तो सृष्टि की बात ही कहाँ से आती है तो यह भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि आगमों में प्रलय का प्रतिपादन किया गया है।[२४] विश्वनाथ कहते हैं कि इसी प्रकार संवादी शुकादि वाक्यों के प्रति तो ईश्वरीय तात्पर्य ज्ञान कारण होता है लेकिन विसंवादी शुकवाक्यों में तो शिक्षयिता के तात्पर्यज्ञान को ही कारण समझना चाहिए।[२५] विश्वनाथ के अनुसार कुछ लोगों का मन्तव्य है कि नानार्थक स्थलों में तात्पर्यज्ञान सर्वत्र शाब्दबोध के प्रति कारण न होकर कुछ स्थलों में ही होता है तथा शुकवाक्यों में शाब्दबोध तात्पर्यज्ञान के बिना ही हो जाता है। इसी प्रकार वेद वाक्यों का तात्पर्य भी अनादिकाल से आ रही आचार्यों की परम्परा से ही ज्ञात हो जाता है ऐसा समझना चाहिए।[२६] इस प्रकार हम देखते हैं कि नैयायिकों ने लौकिक स्थलों मे वक्ता के अभिप्राय को जबकि वैदिक स्थलों में ईश्वर के अभिप्राय को तात्पर्य बतलाकर शाब्दबोध में तात्पर्य की कारणता सिद्ध की है।

२.१.२.३. वेदान्त अभिमत तात्पर्य

वेदान्त दर्शन में भी तात्पर्यज्ञान को वाक्यार्थज्ञान में हेतु माना गया है। वेदान्तपरिभाषा के अनुसार वाक्यजन्यज्ञान में आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्यज्ञान ये चार कारण होते हैं।[२७] वेदान्तपरिभाषा में तात्पर्यविषयक

स्वमत को बतलाने के पहले नैयायिकों के तात्पर्यविषयक मत में दोष दिखलाते हुए कहा गया है कि नैयायिकों ने जो "वक्तुरिच्छा तात्पर्यम्" (अर्थात् वक्ता के विवक्षित अर्थ की प्रतीति श्रोता को हो, इस इच्छा से उसके द्वारा उच्चारण किये हुए शब्द का तात्पर्य उसी अर्थ में होता है।) इस प्रकार तात्पर्य का जो लक्षण किया है वह दोषयुक्त है, क्योंकि जिस पुरुष को वाक्यार्थज्ञान नहीं है, ऐसे पुरुष के द्वारा उच्चारण किये जाने वाले वेदवाक्य से अर्थज्ञान न होने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा। इसके अतिरिक्त यह अध्यापक अव्युत्पन्न है इस प्रकार के विशेषज्ञान से उसमें तात्पर्यभ्रम का अभाव रहता है, इस कारण उसे उसका ज्ञान है, यह भी नहीं कहा जा सकता। यदि यह कहें कि ईश्वरेच्छा ही तात्पर्य है तो यह भी सही नहीं है, क्योंकि जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता है उसके मत में तो ईश्वर के तात्पर्यज्ञान से शाब्दबोध होना माना जा सकता है, किन्तु जिन्हें ईश्वर का अस्तित्व ही मान्य न हो उन्हें तो वेदवाक्यों से शाब्दबोध नहीं होना चाहिए जबकि व्युत्पन्न व्यक्ति आस्तिक हो या नास्तिक उसे वैदिक वाक्य के श्रवण होने पर अर्थज्ञान होता दिखायी देता है।[२८]

इस प्रकार नैयायिकों के तात्पर्यविषयक लक्षण में दोष दिखाकर वेदान्तपरिभाषा में तात्पर्य का लक्षण करते हुए धर्मराजाध्वरीन्द्र लिखते हैं कि "पदार्थों के संसर्ग का अनुभव उत्पन्न करने की वाक्य में योग्यता का होना ही तात्पर्य है।"[२९] अर्थात् वाक्य में वक्ता के विवक्षित अर्थ का ज्ञान करा देने की योग्यता को ही तात्पर्य कहते हैं। जैसे- 'घर में घट है' यह वाक्य घर और घट के सम्बन्ध का अनुभव कराने में योग्य है न कि घर और पट के संसर्ग बोध कराने में। अर्थात् 'घर में घट है' इस वाक्य के कहे जाने पर वक्ता को उस वाक्य के अर्थ का ज्ञान हो चाहे न हो किन्तु उस वाक्य में गृह और घट में आधाराधेयभावरूप सम्बन्ध का ज्ञान करा देने की योग्यता रहती है, इसलिए श्रोता को विवक्षित अर्थ का बोध होता है। इस प्रकार इस वाक्य में गृह और घट के आधाराधेयभावरूप सम्बन्ध का ज्ञान करा देने की जो योग्यता रहती है उसका ज्ञान ही तात्पर्यज्ञान है तथा इस तात्पर्यज्ञान से ही सर्वत्र शाब्दबोध होता है।[३०]

२.१.२.४. मीमांसा अभिमत तात्पर्य

मीमांसकों का भाट्टसम्प्रदाय वाक्यार्थ प्रतिपादन में अभिहितान्वयवाद का समर्थक है जिनके अनुसार वाक्यों में अभिधावृत्ति द्वारा पदार्थों का बोध करा देने के बाद पदार्थों में अन्वय कर वाक्यार्थ प्रतिपादन करने के लिए एक अन्य वृत्ति की आवश्यकता पड़ती है जिसे प्रारम्भिक अभिहितान्वयवादी लक्षणावृत्ति के नाम से अभिहित करते हैं जबकि बाद के कुछ अभिहितान्वयवादियों ने उसे तात्पर्यवृत्ति के नाम से अभिहित किया है। चूँकि प्रारम्भिक भाट्टमीमांसकों ने वाक्यों में अन्वय की उपपादिका वृत्ति के रूप में तात्पर्यवृत्ति का उल्लेख नहीं किया है, अतः वे तात्पर्यविषयक कोई विवेचन नहीं करते हैं। भाट्टसम्प्रदाय में तात्पर्य का सम्यक् विवेचन भाट्टचिन्तामणिकार गागाभट्ट ने प्रस्तुत किया है। गागाभट्ट ने तात्पर्यविषयक वेदान्तपरिभाषा के लक्षण को दोषयुक्त बतलाते हुए कहा है कि यदि उक्त तात्पर्य का लक्षण माने तो 'सैन्धवमानय' इत्यादि स्थलों में शाब्दबोध नहीं हो सकेगा, क्योंकि उक्त वाक्य के सैन्धव पद में अश्व तथा लक्षण दोनों अर्थों के ज्ञान कराने की योग्यता है लेकिन श्रोता को यह कैसे ज्ञात होगा कि 'सैन्धव' शब्द किस अभिप्राय से कहा गया है। यदि इसका उत्तर यह दिया जाय कि प्रकरण आदि के द्वारा सैन्धव पद का भोजनकाल में लवण तथा गमनकाल में अश्व अर्थ कर लिया जायेगा, तो गागाभट्ट कहते हैं कि इस प्रकार तो प्रकरण, विशेषण, संयोगादि अनेक ज्ञान की अपेक्षा होने लगेगी जिससे गौरव होगा। अतः शाब्दबोध में तात्पर्यज्ञान को कारण मानने में ही लाघव है। तात्पर्यज्ञान का जनक होकर तार्त्पय के अनुगत संयोगादि को भी शाब्दबोध में कारण नहीं मानना चाहिए, क्योंकि तात्पर्यज्ञान के जनक की अपेक्षा तात्पर्यज्ञान लघु है।[३१] गागाभट्ट ने तात्पर्य को परिभाषित करते हुए लिखा है— **"तात्पर्यं तु तत्प्रतीतीच्छया वक्त्रा अनुसंहितत्वम्।"**[३२] गागाभट्ट के अनुसार पदार्थ तात्पर्य निश्चय तथा संसर्ग तात्पर्य निश्चय ही शाब्दबोध में हेतु बनते हैं। इनका सन्देह होने पर शाब्दबोध नहीं हो सकता। यदि तात्पर्यभ्रम में शाब्दबोध हो जाता है तो वह शाब्दबोध आहृत ही होता है न कि वास्तविक।[३३] तात्पर्य लक्षण में इच्छादि विशेषणों का सन्निवेश

करने पर यह आपत्ति आती है कि शुक के द्वारा बोले गये वाक्य तथा वेदवाक्यों के द्वारा शाब्दबोध कैसे होगा, क्योंकि जहाँ शुकवाक्य में किसी तात्पर्यग्राहक इच्छा का अभाव होता है वही वेदवाक्यों के उच्चारण में भी किसी की इच्छा को नहीं माना जा सकता। गागाभट्ट इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि शुकवाक्यों में तथा वेदवाक्यों में ईश्वर के तात्पर्य से अथवा अध्यापक के तात्पर्य से शाब्दबोध हो जायेगा।[३४] गागाभट्ट के अनुसार कुछ आचार्यों का मानना है कि जहाँ पर नाना अर्थों से युक्त लाक्षणिक शब्द रहते हैं, वही पर शाब्दबोध के प्रति तात्पर्यज्ञान कारण बनता है, सर्वत्र नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से गौरव होगा। जैसे- "सैन्धवमानय" इस वाक्य को श्रवण करने के पश्चात् श्रोता द्वारा सैन्धव पद से अश्व तथा लवण दोनों ही उपस्थित किये जा सकते हैं, किन्तु वक्ता के तात्पर्य को समझकर श्रोता भोजनकाल में लवण तथा गमनकाल में अश्व को उपस्थित करता है। इस वाक्य में तो तात्पर्यज्ञान शाब्दबोध का कारण बनेगा लेकिन जिस वाक्य में कोई लाक्षणिक पद नहीं होगा वहाँ तत्पर्यज्ञान को शाब्दबोध में कारण नहीं माना जायेगा, क्योंकि शाब्दबोधमात्र में तात्पर्यज्ञान को कारण मानने की अपेक्षा केवल लाक्षणिक पदों से युक्त वाक्यों के प्रति ही तात्पर्यज्ञान की कारणता को स्वीकार करने में लघुता है।[३५]

गागाभट्ट कहते हैं कि कुछ आचार्यों की मान्यता है कि तात्पर्यज्ञान शाब्दबोध में कही पर भी कारण नहीं बनता क्योंकि तात्पर्य का ज्ञान असम्भव है। चूँकि नानार्थ पदों से युक्त वाक्यों में भी प्रकरण आदि के द्वारा अर्थ का निश्चय हो ही जाता है अत: तात्पर्य का विचार करना व्यर्थ है। इसलिए लौकिक नानार्थ शब्दों में तथा वेदवाक्यार्थबोध में तात्पर्यज्ञान किसी भी प्रकार कारण नहीं बनता है।[३६] भाट्टचिन्तामणि के अतिरिक्त शोधार्थी द्वारा मीमांसा के अन्य उपलब्ध ग्रन्थों में मीमांसक अभिमत तात्पर्य का स्पष्टीकरण नहीं प्राप्त किया जा सका। सम्प्रति मीमांसा के उपलब्ध ग्रन्थों में तात्पर्यविषयक कुछ उद्धरण अवश्य प्राप्त होते हैं, जिन्हें निम्न प्रकार से देखा जा सकता है—

- "प्राधान्येनाभिधानम्, तात्पर्येणाभिधानम्।"[३७]

- "यद्यप्यभिधाव्यापारः पदार्थेष्वेव पर्यवसितस्तथापि तात्पर्यव्यापृतेरपर्यवसिताया वाक्यार्थपर्यन्तत्वात् तात्पर्ये शब्दस्य प्रमाण्यात् सिध्यति शब्दे प्रमेयतया वाक्यार्थस्य शाब्दत्वमिति।"[३८]
- "तात्पर्यं च शब्दगत एव धर्मविशेषः। तद्ग्राहकश्च अध्ययन-विध्यादिरेव।"[३९]
- "तात्पर्यावधारणं विना लाक्षणिकाशब्दप्रवृत्त्ययोगः।"[४०]
- "तात्पर्याख्यशब्दव्यापारस्य सर्वत्र भावात्।"[४१]

काव्यप्रकाश के पञ्चम उल्लास में आचार्य मम्मट ने व्यञ्जनावृत्ति की सिद्धि करने के प्रसङ्ग में मीमांसक अभिमत तात्पर्य के स्वरूप पर प्रकाश डाला है, जिसे काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने भट्टलोल्लट का मत बतलाया है। ध्यातव्य है कि भट्टलोल्लट का कोई भी ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध नहीं है, अतः तात्पर्यविषयक उनके मन्तव्य की जानकारी हमें काव्यप्रकाश से ही मिलती है। भट्टलोल्लट एवं अन्य मीमांसकों के तात्पर्यविषयक मत जिनका उल्लेख मम्मट ने किया है, उनपर विस्तृत विचार-विमर्श तृतीय अध्याय में किया गया है।

२.२. तात्पर्यवृतिः उद्भव एवं स्वरूप

२.२.१. तात्पर्यवृत्ति का उद्भव

जिस प्रकार पदज्ञान के लिए व्याकरणशास्त्र एवं प्रमाण विषयक ज्ञान के लिए न्यायशास्त्र का अध्ययन अनिवार्य है, उसी प्रकार वाक्यार्थज्ञान के लिए हमें मीमांसा की शरण लेनी पड़ती है। वाक्यार्थज्ञान विवेचन के प्रसङ्ग में मीमांसा दर्शन में दो महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त दृष्टिगोचर होते हैं, जिन्हें अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद के नाम से जाना जाता है। अभिहितान्वयवाद के अनुसार वाक्यार्थबोध की प्रक्रिया में पहले अभिधावृत्ति के द्वारा पदों से पदार्थों का बोध होता है, तदनन्तर उन पदार्थों में परस्पर अन्वय होकर वाक्यार्थ का बोध होता है जबकि अन्विताभिधानवाद के अनुसार वाक्यार्थज्ञान हमें अन्वित पदार्थों का ही

होता है जो पहले से ही विद्यमान रहते हैं अर्थात् उन पदार्थों में अन्वय नहीं करना पड़ता है। अभिहितान्वयवादियों ने जो अपना वाक्यार्थ सम्बन्धी सिद्धान्त प्रस्तुत किया उसका उत्स हमें शाबरभाष्य में दृष्टिगोचर होता है जहाँ शबरस्वामी ने इस तथ्य पर बल दिया है कि अभिधा का व्यापार पदार्थों को व्यक्त करके समाप्त हो जाता है और वाक्यार्थ इस पदार्थज्ञान के बाद व्यक्त होता है।[४२]

अभिहितान्वयवाद के प्रवर्तक कुमारिल भट्ट हैं जिनका सम्प्रदाय भाट्टसम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है। अभिहितान्वयवादी भाट्टमीमांसक वाक्यार्थबोधन की प्रक्रिया में पदार्थों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक अन्य वृत्ति की कल्पना करते हैं जिसे कुमारिल भट्ट, पार्थसारथि मिश्र आदि ने उसे लक्षणा जबकि कुछ बाद के आचार्यों ने उसे तात्पर्यवृत्ति के नाम से अभिहित किया है। अभिहितान्वयवादी कुमारिल भट्ट ने स्वयं कही पर भी तात्पर्यवृत्ति का उल्लेख नहीं किया है, उन्होंने वाक्यार्थ को लक्ष्यमाण माना है।[४३] भाट्टमतानुयायी पार्थसारथि मिश्र ने भी न्यायरत्नमाला में अन्विताभिधानवादियों के मत का खण्डन करते हुए इसी मत की प्रतिष्ठापना की है। उनके अनुसार यद्यपि एक ही वाक्य में अनेक पद पाये जाते हैं तथापि सन्निधि, अपेक्षा तथा योग्यता के द्वारा हम वाक्य के पदों में सम्बन्ध ग्रहण कर लेते हैं। वाक्य में प्रयुक्त पदों का अन्वय आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि के कारण होता है।[४४] उस सम्बन्ध के होने के बाद वाक्यार्थज्ञान होता है। लेकिन वाक्य या पद दोनों ही अकेले साक्षात् सम्बन्ध के द्वारा वाक्यार्थबुद्धि उत्पन्न नहीं करते। वाक्यार्थ की प्रक्रिया में पहले पद के स्वरूप के द्वारा पदार्थ अभिहित होते हैं; तब वे वाक्यार्थ को लक्षित करते हैं।[४५]

वाक्यार्थ बोध की प्रक्रिया को बतलाते हुए विश्वनाथ पञ्चानन कहते हैं कि एक वाक्य में अनेक छोटे बड़े सभी तरह के पद होते हैं, किन्तु वाक्यार्थ प्रतीति में सभी पदार्थ एक साथ उसी तरह अन्वित हो जाते हैं, जैसे बूढे, जवान और बच्चे सभी तरह के कबतूर दाना चुगने के लिए एक साथ कूद पड़ते हैं।[४६] वर्द्धमानोपाध्याय ने भाट्टमत का निरूपण करते हुए

लिखा है कि "पदों का तात्पर्य एवं प्रवृत्ति अभिहित अर्थों के वाक्यगत अन्वय के प्रति है; किन्तु यह तात्पर्य न तो अपनी एकाकी कर्तृता के द्वारा और न ही अभिधाशक्ति के द्वारा सिद्ध हो सकता है, अतः इसकी सिद्धि एक शब्दव्यापार के माध्यम से की जा सकती है। इस व्यापार को लक्षणा कहा गया है और इसके द्वारा पदार्थों का वाक्य में अन्वय प्रस्तुत किया जाता है।"[४७]

इस प्रकार हम देखते हैं कि अभिहितान्वयवादी भाट्टमीमांसक वाक्यार्थज्ञान की शक्ति को लक्षणा कहते हैं अर्थात् वाक्यार्थ प्रतिपादन में पदार्थों का अन्वय करने वाली वृत्ति लक्षणा ही है। वाचस्पति मिश्र ने भी बतलाया है कि पदार्थों को अन्वित करने वाली अभिधादि से भिन्न है। यदि इसे अलग से वृत्ति मानी जाय तो चार वृत्तियाँ माननी पड़ेगी-अभिधा, लक्षणा, गौणी और पदार्थान्वयवृत्ति। इस गौरव से बचने के लिए ही इसे लक्षणा माना गया है।[४८] लेकिन अभिहितान्वयवादी मीमांसकों का ही एक विशेष वर्ग अवश्य रहा है जिसने वाक्यार्थबोध में पदार्थों का अन्वय करने वाली वृत्ति को तात्पर्यवृत्ति से सम्बोधित किया है जिसके आधार पर ही काव्यशास्त्रियों ने इस वृत्ति का प्रतिपादन पदार्थों में अन्वय करने वाली वृत्ति के रूप में अपने ग्रन्थों में यथास्थल किया है।

वाक्यार्थबोध में तात्पर्यवृत्ति की भूमिका का सर्वप्रथम स्पष्ट उल्लेख जयन्तभट्ट कृत न्यायमञ्जरी में प्राप्त होता है। यद्यपि तात्पर्यवृत्ति का सङ्केत जयन्तभट्ट के पूर्ववर्ती प्राभाकर मीमांसक आचार्य शालिकनाथ मिश्र ने अपने प्रकरणपञ्चिका नामक ग्रन्थ में किया है।[४९] जिससे जयन्तभट्ट के पूर्ववर्ती अभिहितान्वयवादी मीमांसकों में तात्पर्यवृत्ति के प्रचलन का सङ्केत अवश्य मिलता है लेकिन जबतक जयन्तभट्ट के पूर्ववर्ती किसी अभिहितान्वयवादी मीमांसक का कोई ऐसा ग्रन्थ न प्राप्त हो जाय जिसमें तात्पर्यवृत्ति का उल्लेख हो, तबतक तात्पर्यवृत्ति के उद्भव का श्रेय जयन्तभट्ट कृत न्यायमञ्जरी को ही जाता है। तात्पर्यवृत्ति को सर्वप्रथम एक स्वतन्त्र वृत्ति के रूप में प्रतिष्ठापित करने का श्रेय भी जयन्तभट्ट को ही है।

२.२.२. तात्पर्यवृत्ति का स्वरूप

तात्पर्यवृत्ति को परिभाषित करते हुए संस्कृत वाङ्मय कोश में कहा गया है कि 'वाक्यगत पदों के पृथक्-पृथक् अर्थों के परस्पर सम्बन्ध का बोध कराने वाली एक विशिष्ट वृत्ति तात्पर्यवृत्ति कहलाती है।'[५०] जयन्तभट्ट ने तात्पर्यवृत्ति को सम्पूर्ण वाक्यार्थ की प्रतिपादिका शक्ति के रूप में प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार पदों के अर्थ को बतलाने वाली शक्ति अभिधा तथा उनकी तात्पर्यशक्ति वह होती है, जो कि संसर्ग तक का अवगम कराती है।[५१] जयन्तभट्ट के अनुसार वाक्यार्थ का बोध अन्वित का विषय करने वाला होता है। पदों में संहत्यकारिता होने के कारण केवल अपने ही अर्थ को समझने के लिए पदों का उच्चारण नहीं किया जाता है, किन्तु प्रधान कार्य अर्थात् वाक्यार्थ बोध कराने के लिए ही पदों का उच्चारण किया जाता है। जैसे कहा है कि जब पद वाक्यार्थ के प्रतिपादनार्थ प्रयुक्त होते हैं तब पाकस्थल के समान पदार्थ का प्रतिपादन हो ही जाता है।[५२]

अत: यह विशाल प्रज्ञावल्ली अर्थात् शक्यार्थ बुद्धिस्वरूपा लता ऐसे स्वादु फल को पकाती है, जिसे पाकर विलसमान वाक्यार्थ तत्त्व के सम्बन्ध में श्रोता पूर्ण नैराकाङ्क्ष्य को अर्थात् सन्तोष को प्राप्त करता है[५३] और भी कहा गया है कि पद से प्रारम्भ करके जो यह ज्ञाता की प्रज्ञा जम्भाई लेती है अर्थात् उपचित होती है, वह पदार्थों को लेकर पुष्पित होती है और वाक्यार्थ में जाकर फलित। इसलिए इस नीति से होने वाला सम्प्रत्यय अर्थात् निर्णयात्मक वाक्यार्थ सही होता है और संसृष्ट पदार्थ ही वाक्यार्थ कहलाता है।[५४] इस तात्पर्यवृत्ति को काव्यशास्त्रियों ने अपने विवेचन का विषय बनाया है जिसपर विशद विचार विमर्श अगले अध्याय में किया गया है।

२.३. तात्पर्यवृत्ति एवं वाक्यार्थ

सम्पूर्ण भाषिक व्यवहार वाक्य रूप में ही परिचालित होता है। भाषा की आरम्भिक दशा में वाक्यों का ही प्रयोग होता है। बच्चे की भाषा सीखने

की आरम्भिक प्रक्रिया पर ध्यान देने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह पहले वाक्य सीखता है फिर बोलता है और वाक्यों में ही सोचता समझता है। धीरे-धीरे उसे पदों और शब्दों का ज्ञान होता है। इस प्रकार वाक्य के पृथक्-पृथक् अवयव होते हुए भी सम्पूर्ण विचारों के वाचक वाक्य ही होते हैं। इस प्रकार भाषिक-चिन्तन में वाक्य के स्वरूप को समझना आवश्यक होता है, क्योंकि यादि भाषिक व्यवहार की सार्थकता विचार के सम्प्रेषण या आदान प्रदान में मानी जाय तो उस उद्देश्य को पूर्ण करने वाली भाषा की न्यूनतम मूल इकाई वाक्य को ही मानना पड़ेगा, जिसमें कोई विचार सम्पूर्णता के साथ व्यक्त हो सकता है। जब हम वाक्य के स्वरूप को समझ लेते हैं तो वाक्यार्थ विचार की ओर अग्रसर होते हैं। यथा- वाक्यार्थ का स्वरूप क्या है? वाक्यार्थ में निमित्त क्या होता है? वाक्यार्थबोध के कारण क्या होते हैं? इत्यादि। इस प्रकार यहाँ वाक्य एवं वाक्यार्थ के स्वरूप का दिग्दर्शन करते हुए वाक्यार्थबोध में तात्पर्यवृत्ति की भूमिका पर विचार किया जा रहा है—

२.३.१. वाक्य का स्वरूप

वाक्य का स्वरूप निर्धारण भाषा-दर्शन की एक प्रमुख समस्या रही है। वाक्य की अनेक परिभाषाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। व्याकरण, न्याय, मीमांसा एवं काव्यशास्त्र में वाक्यविषयक कई परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं। वैयाकरण कात्यायन एवं पतञ्जलि ने प्राचीन आचार्यों के विभिन्न लक्षणों का संग्रह करते हुए वाक्य के चार लक्षण बतलाए हैं। उनके अनुसार अव्यय, कारक और विशेषण में किसी एक या सभी से युक्त क्रिया वाक्य की निष्पत्ति करती है।[५५] इस लक्षण में क्रियाविशेषण को भी सम्मिलित किया जा सकता है।[५६] विशेषणयुक्त केवल क्रिया भी वाक्य हो सकती है।[५७] कभी कभी वाक्य केवल क्रिया रूप भी हो सकता है।[५८] वैयाकरणों के मतानुसार वाक्य के पद-पदांश का प्रकृति-प्रत्यय आदि विभाग केवल व्यावहारिक हैं और वे वाक्य को अखण्डतत्त्व मानकर वाक्यस्फोट की कल्पना करते हैं। भर्तृहरि के अनुसार वाक्यवादियों का मत है कि वाक्य अखण्ड होता है, उसमें से पदभेद किये जाते हैं, किन्तु ये भेद वस्तुतः काल्पनिक ही होते

हैं।[५९] भर्तृहरि की इस कारिका की व्याख्या करते हुए पुण्यराज ने लिखा है कि पाणिनि और पतञ्जलि को भी अखण्डवाक्यस्फोट ही स्वीकृत है। उनके अनुसार पद असत्य है और एक अखण्डवाक्य ही है। पदों का विभाग अविद्वानों को ज्ञान कराने के लिए है, वह कल्पित है।[६०] नव्यवैयाकरण नागेश भट्ट ने परमलघुमञ्जूषा में अखण्ड एवं स्फोटात्मक रूप में ही वाक्य को परिभाषित करते हुए वाक्यसम्बन्धी न्यायभाष्यकार के मत का भी उल्लेख किया है। न्याय भाष्यकार वात्स्यायन ने नैयायिकों के मतानुसार वाक्य में अर्थ बोधकता को सिद्ध करते हुए लिखा है कि साकाङ्क्ष पदों के समूह को वाक्य कहते हैं; क्योंकि वही अर्थ का बोध कराने में समर्थ होता है। यहाँ पर पद शब्द से सुबन्त एवं तिङन्त दोनों का ग्रहण है।[६१]

नव्य नैयायिक जगदीश तर्कालङ्कार के अनुसार आकाङ्क्षायुक्त शब्दों का समूह वाक्य कहलाता है।[६२] इस कारिका की व्याख्या में वाक्य के चार प्रकार बतलाये गये हैं।[६३] शाबरभाष्य में शबर स्वामी ने वाक्य को परिभाषित करते हुए लिखा है कि 'मिलकर अर्थ को प्रकट करने वाले पद वाक्य कहलाते हैं।'[६४] पार्थसारथि मिश्र के अनुसार एक विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन करने वाले पदों का समुदाय ही वाक्य कहलाता है।[६५] लौगाक्षि भास्कर के अनुसार सहोच्चारण को वाक्य कहते हैं।[६६]

काव्यशास्त्री आचार्य विश्वनाथ ने वाक्य को परिभाषित करते हुए कहा है कि— आकाङ्क्षा, योग्यता और आसत्ति से युक्त पदसमूह को वाक्य कहते हैं।[६७] विश्वनाथ ने आकाङ्क्षादियुक्त वाक्यों के समूह को महावाक्य कहा है। इस प्रकार इन्होंने वाक्य एवं महावाक्य के भेद से वाक्य के दो प्रकारों का उल्लेख किया है।[६८] महिमभट्ट ने आकाङ्क्षा के साथ क्रिया प्रधान को वाक्य कहा है।[६९] इस प्रकार हम देखते हैं कि वैयाकरणों, नैयायिकों, मीमांसकों एवं काव्यशास्त्रियों ने वाक्य के स्वरूप पर पर्याप्त विचार-विमर्श किया है।

२.३.१.१. वाक्य गठन के आधारभूत तत्त्व

आकाङ्क्षा, योग्यता एवं आसक्ति को वाक्य के गठन में आधारभूत तत्त्व के रूप में परिकल्पित किया गया है। इन तीनों की उपस्थिति में ही पद

मिलकर वाक्य का निर्माण करते हैं। इनके स्वरूप को निम्न प्रकार से देखा जा सकता है—

आकाङ्क्षा

वाक्य विधान के लिए पदसमूह में आकाङ्क्षा की सत्ता आवश्यक मानी गयी है। वह वाक्य का अनिवार्य तत्त्व है। इसकी सत्ता ही पदसमूह को वाक्य का रूप प्रदान करती है। इसके अभाव में गौः, अश्वः, आम्रम्, आदि पदसमूह को वाक्य नहीं माना जाता है। आकाङ्क्षा के स्वरूप के सम्बन्ध में वैयाकरणों एवं नैयायिकों की अलग-अलग मान्यताएँ हैं। वैयाकरण आकाङ्क्षा को प्रमाता के मन की जिज्ञासा मानकर उसे शब्द पर आरोपित धर्म मानते हैं, पर नैयायिकों की दृष्टि में आकाङ्क्षा शब्दनिष्ठ या शब्दार्थनिष्ठ धर्म है। नागेश भट्ट ने आकाङ्क्षा को वाक्यार्थबोध का अनिवार्य साधक तत्त्व माना है और उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मञ्जूषा में कहा है कि पद समूह में से एक़ पद के अर्थ का ज्ञान हो जाने पर उस अर्थ से अन्वित होने योग्य अर्थ की जिज्ञासा आकाङ्क्षा कहलाती है। यह आकाङ्क्षा वस्तुतः प्रमाता में रहा करती है। वाक्य को सुनने वाले की एक मानसिक स्थिति जिसमें एक पद के अर्थ के साथ अन्वित होने वाले अन्य पदार्थ की जिज्ञासा रहती है, आकाङ्क्षा का स्वरूप है; फिर भी प्रमातागत वह जिज्ञासा एक पदार्थ के साथ अन्वित होने लायक अन्य पदार्थ के ज्ञान की आकाङ्क्षा के विषयीभूत अर्थ पर आरोपित हो जाती है।[७०] इस प्रकार नागेश भट्ट की दृष्टि में आकाङ्क्षा की वास्तविक सत्ता प्रमाता के मन में रहती है और वाक्यगत पदों के अर्थ में उसकी सत्ता आरोपित होती है।

विश्वनाथ पञ्चानन के अनुसार जिस पद के बिना जिस पद में शाब्दबोधजनकता न रहे, उसके साथ उसकी आकाङ्क्षा होती है।[७१] अन्नम्भट्ट के अनुसार एक पद का दूसरे पद के बिना प्रयुक्त होने पर शाब्दबोध कराने की असमर्थता आकाङ्क्षा कहलाती है।[७२] धर्मराजाध्वरीन्द्र ने आकाङ्क्षा का अभिप्राय इच्छा बतलाया है। इनके अनुसार पदार्थों की परस्पर जिज्ञासा में विषय होने की योग्यता को आकाङ्क्षा कहते हैं।[७३] साहित्यदर्पणकार आचार्य

विश्वनाथ ने प्रतीति के पर्यवसान के अभाव को आकाङ्क्षा कहा है, तथा वह आकाङ्क्षा श्रोता की जिज्ञासारूप होती है।[७४] अर्थात् किसी ज्ञान की समाप्ति या पूर्ति का न होना आकाङ्क्षा है। वाक्यार्थ की पूर्ति के लिए किसी पदार्थ की जिज्ञासा का बना रहना आकाङ्क्षा कहलाता है। अत: वाक्यार्थ की प्रतीति के लिए पदार्थ में जिज्ञासा का रहना आवश्यक माना गया है जो आकाङ्क्षा के रूप में विद्यमान रहता है।

योग्यता

वाक्य का निर्माण करने वाले पदों में योग्यता का निर्णय उन पदों से विवक्षित अर्थ की बाधाहीन अभिव्यक्ति के आधार पर किया जाता है। यदि पद समूह से किसी विवक्षित अर्थ में कुछ बाधक तत्त्व आ जाय तो उस पदसमूह में योग्यता का अभाव माना जाता है और वैसी स्थिति में पदों के उस समूह को वाक्य के रूप में घटित नहीं माना जाता है। लौकिक पदार्थ का जैसा अनुभव मानव के मन में रहता है उसके प्रतिकूल भाषिक अर्थ को ग्रहण करने में बाधा होती है, अत: अनुभव विरुद्ध अर्थ देने वाले पदों के समूह को योग्यता के अभाव के कारण संगत अर्थ के बोधक वाक्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता। उदाहरणार्थ— 'जलेन सिञ्चति' इस कथन से गृहीत अर्थ अनुभव सिद्ध है, परन्तु 'वह्निना सिञ्चति' इस कथन से बोधित अर्थ अनुभव विरुद्ध है, अत: प्रथम कथन के पदसमूह को योग्यता के सद्भाव के कारण वाक्य जबकि द्वितीय कथनस्थ पदसमूह को योग्यता के अभाव के कारण अपवाक्य कहा जाता है।

नागेश भट्ट ने योग्यता को परिभाषित करते हुए लिखा है कि— 'अर्थों का जो परस्पर के सम्बन्ध का प्रयोजक धर्म है, उससे युक्त होना ही योग्यता है। इस कारण 'जलेन सिञ्चति' ऐसा वाक्य ठीक है, क्योंकि जल मे सिञ्चन करना रूप क्रिया में अन्वय का प्रयोजक धर्म गीलापन है और करण रूप से जल में अन्वय का प्रयोजक धर्म 'गीला करना' रूप योग्यता सिञ्चनक्रिया में भी है। इसलिए 'वह्निना सिञ्चति' यह वाक्य अयोग्य है, क्योंकि न तो आग में सिञ्चनक्रिया के साथ अन्वय का प्रयोजक धर्म गीलापन ही है और न ही सिञ्चन क्रिया में आग के अन्वय के प्रयोजक धर्म

दाहकत्व ही है।[७५] नव्य नैयायिक विश्वनाथ पञ्चानन ने एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ के सम्बन्ध को योग्यता कहा है।[७६] अन्नम्भट्ट ने अर्थबोधन में बाधा के अभाव को योग्यता कहा है।[७७] डॉ० चक्रधर विजलवान ने मीमांसा अभिमत योग्यता का उल्लेख करते हुए लिखा है कि मीमांसकों के अनुसार योग्यता अर्थप्रतिपादन में वाक्य की सहकारिणी है। कुछ आचार्य बाधाभाव को योग्यता मानते हैं। कुमारिल भट्ट तथा उनके अनुयायी योग्यता को वाक्यार्थ ज्ञान का हेतु नहीं अपितु अयोग्यतानिश्चय का प्रतिबन्धक मानते हैं। अर्थात् योग्यता से अयोग्यता का बाध हो जाता है।[७८] धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार वाक्य के तात्पर्यविषयीभूत संसर्ग का बाध न होना योग्यता कहलाता है।[७९] साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ आदि आलङ्कारिकों ने भी एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ सम्बन्ध के होने में बाधा के अभाव को ही योग्यता कहा है।[८०] इस उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम देखते हैं कि पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाधा का न होना ही योग्यता है।

आसत्ति

दो या दो से अधिक पदों का बिना किसी अन्तराल के विद्यमान रहना आसत्ति कहलाता है। इसे कुछ आचार्यों ने आसत्ति तथा कुछ आचार्यों ने इसे सन्निधि के नाम से अभिहित किया है। नागेश भट्ट ने आसत्ति को परिभाषित करते हुए लिखा है कि प्रासङ्गिक जो अन्वय है, उसके ज्ञान के प्रतिकूल होने वाले पद से व्यवहित न होना ही आसत्ति है।[८१] यह आसत्ति मन्दबुद्धि वालों के लिए शीघ्र ही अर्थज्ञान में कारण होती है। तीक्ष्ण बुद्धिवालों के लिए तो आसत्ति के अभाव में भी पदार्थ की उपस्थिति हो जाने पर आकाङ्क्षा आदि से अविलम्ब ही अर्थबोध हो जाता है। अत: शाब्दबोध में आसत्ति का कारणत्व वहाँ नहीं रहता।[८२]

विश्वनाथ पञ्चानन ने पदों के सन्निधान को आसत्ति कहा है।[८३] अन्नम्भट्ट ने पदों के विना विलम्ब किये उच्चारण को सन्निधि कहा है।[८४] तर्कदीपिका में पदार्थों की अविलम्ब उपस्थिति को ही सन्निधि कहा गया है।[८५] धर्मराजाध्वरीन्द्र के अनुसार व्यवधान से रहित जो पदजन्य पदार्थ की उपस्थिति होती है, उसे आसत्ति कहते हैं।[८६] इसी प्रकार साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने भी

प्रकृतोपयोगी पदार्थों की उपस्थिति के 'अविच्छेद' अर्थात् अव्यवधान को ही आसत्ति कहा है।[८७]

इस प्रकार आकाङ्क्षा, योग्यता एवं आसत्ति के स्वरूप का उपर्युक्त प्रकार से अवलोकन करने के पश्चात् स्पष्ट है कि वाक्य के संगठन में इनकी महती भूमिका होती है तथा ये वाक्य के गठन के आधारभूत तत्त्व हैं। इन्हें आचार्यों ने वाक्यार्थ का सहकारी कारण माना है। इसका कारण यह है कि जबतक आकाङ्क्षादि का ज्ञान नहीं होगा तबतक वाक्य का गठन ही नहीं हो पायेगा और जब वाक्य ही नहीं उपपन्न हो पायेगा तो वाक्यार्थबोध कैसे होगा। यही कारण है कि वाक्यार्थबोध में इन्हें सहकारी कारण के रूप में स्वीकार किया गया है, इन तीनों के साथ कुछ आचार्यों ने तात्पर्यज्ञान को भी वाक्यार्थबोध में आवश्यक माना है, जिसका विवेचन पहले किया जा चुका है।

२.३.२. वाक्यार्थ का स्वरूप

वाक्यार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में भारतीय विचारकों ने अनेक प्रकार की विरोधी विचारधाराएँ व्यक्त की हैं। वैयाकरणों ने वाक्यार्थ को प्रतिभा रूप मानकर उसके स्वरूप का स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया है। वाक्यस्फोटवादी वैयाकरण शब्द और अर्थ की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानकर वाक्य और वाक्यार्थ को ही भाषा की मूल और अखण्ड इकाई मानते हैं, जबकि पदस्फोटवादी वैयाकरण पद एवं पदार्थ की स्वतन्त्र सता मानकर वाक्यार्थ के रूप में विभिन्न पदों के अर्थों का ही समायोजन स्वीकार करते हैं। वाक्यस्फोटवादी वैयाकरण वाक्य के अङ्गभूत पदों की तात्त्विक सत्ता नहीं मानते। उनकी दृष्टि में वाक्य की ही यथार्थ सत्ता है, पदों की सत्ता कल्पित मात्र होती है। इसके विपरीत नैयायिक, मीमांसक आदि पद की वास्तविक सत्ता को स्वीकार करते हैं।

नैयायिक जयन्त भट्ट ने न्यायमञ्जरी के पञ्चम आह्निक में वाक्यार्थ से सम्बन्धित अनेक आचार्यों के मतों पर विशद विवेचन करते हुए उनका खण्डन कर वाक्य का अर्थ फल को सिद्ध किया है। उनके अनुसार फल

के ही साध्य होने के कारण तथा सर्वत्र उसकी अवर्जनीयता के कारण क्रिया आदि सभी चूँकि फलार्थ ही अपेक्षित होते हैं, अत: फल में ही वाक्यार्थता सिद्ध होती है।[८८] जयन्त भट्ट ने वाक्यार्थविषयक जिन विविध मतों पर विचार किया है उनको संक्षेप में निम्न प्रकार से देखा जा सकता है—[८९]

- वाक्य का अर्थ ज्ञान होता है।
- वाक्य में क्रिया के मुख्य होने के कारण क्रिया ही वाक्य का अर्थ है।
- वाक्य का अर्थ फल है, क्योंकि क्रिया किसी फल के लिए की जाती है।
- वाक्य का अर्थ पुरुष (ईश्वर) है, क्योंकि क्रिया का फल उसी के लिए होता है।
- वाक्य का अर्थ शब्द भावना अर्थात् विधि है। यह शब्द का व्यापार है।
- वाक्य का अर्थ नियोग है। नियोग का अभिप्रायं है- प्रेरणा।
- वाक्य का अर्थ उद्योग है। 'यजेत' आदि विधिलिङ्ग वाले शब्दों के सुनने पर आत्मा में स्पन्दन-विशेष होता है, उसे उद्योग कहते हैं।
- वाक्य का अर्थ प्रतिभा है।

इन विविध मतों में नैयायिक वाक्य का अर्थ फल को मानते हैं। जयन्त भट्ट ने अन्य मतों का खण्डन कर फल को ही वाक्यार्थ सिद्ध किया है।

वैयाकरण प्रतिभा को अर्थ मानते हैं। उनके अनुसार जब हम किसी शब्द का प्रयोग करते हैं या उसका ग्रहण करते हैं, तो उसमें प्रतिभा ही कारण होती है। अत: उसको ही वाक्यार्थ माना जा सकता है। प्रतिभा के अभाव में वाक्यार्थ की प्रतीति हो ही नहीं सकती। किसी भी शब्द को सुनकर जिस व्यक्ति के हृदय में जैसी प्रतिभा उद्‌बुद्ध होगी, वह उस शब्द का वैसा ही अर्थ ग्रहण करेगा। प्रत्येक व्यक्ति की प्रतिभा एक सी नहीं होती,

अतः सब व्यक्तियों को शब्द का ज्ञान एक सा नहीं होता। इस दृष्टि से शब्दादि के द्वारा अभिप्रेत तथ्य के निश्चित स्वरूप का निर्णय करना आसान नहीं होता। वाक्यार्थ अखण्ड होता है तथा श्रोता की प्रतिभा पर निर्भर रहता है। वाक्यार्थ विषयक भर्तृहरि, पुण्यराज एवं नागेश भट्ट के मन्तव्यों को बतलाते हुए डॉ० हरिराम मिश्र लिखते हैं[९०] कि भर्तृहरि ने प्रतिभा को वाक्यार्थ मानते हुए कहा है कि देवदत्त आदि विच्छिन्न पदार्थों के पृथक्-पृथक् ग्रहण के समय पदार्थबुद्धि से भिन्न प्रतिभा नाम की बुद्धि उत्पन्न होती है। प्रतिभा के अभिव्यञ्जक असत्यस्वरूप देवदत्तादि पदों के द्वारा अभिव्यक्त हुयी प्रतिभा को ही वैयाकरण वाक्यार्थ कहते हैं।[९१] पुण्यराज ने भी कहा है कि अखण्डपक्ष में — (१) जातिः संघातवर्तिनी, (२) 'एकोऽनवयवः शब्दः' तथा (३) 'बुद्ध्यनुसंहृतिः' इन तीनों वाक्य लक्षणों में प्रतिभा ही वाक्यार्थ है।[९२] इसे और स्पष्ट करते हुए नागेश ने माना है कि वाक्यार्थ प्रतिभामात्र का विषय है तथा प्रतिभा अन्य जन्म के संस्कार से भी उत्पन्न होती है। मधुमास में पिक का पञ्चम स्वर का कूजन जन्मान्तर के संस्कार से उत्पन्न होता है। वाक्यार्थ के प्रतिभामात्र का विषय होने के कारण वाक्यार्थ को ही प्रतिभा कह दिया जाता है।[९३] वाक्यार्थ का प्रतिपादन करते हुए शबर स्वामी ने कहा है कि सामान्य रूप से प्रवृत्त पदार्थों का जो विशेष रूप से स्थित होना है, वह वाक्यार्थ कहलाता है।[९४] इस प्रकार हम देखते हैं कि वाक्यार्थ के विषय में सभी सम्प्रदायों में पूर्ण विचार किया गया है तथा सबके अपने अलग-अलग मत हैं।

२.३.२.१. वाक्यार्थ का निमित्त

वाक्य से वाक्यार्थ की प्रतीति कराने में साधन क्या है, किस निमित्त के कारण किसी वाक्य को सुनकर वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, इस विषय में विद्वानों में अनेक मत प्रचलित हैं। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने 'तत्त्वबिन्दु' नामक अपने ग्रन्थ में इन सब मतों पर विस्तृत चर्चा करते हुए अन्त में भाट्टमीमांसकों के वाक्यार्थ-निमित्त सम्बन्धी मत की प्रतिष्ठा की है। उन्होंने उस ग्रन्थ में वाक्यार्थ निमित्त सम्बन्धी पाँच मतों का सङ्केत किया है,

जिनका यहाँ सङ्क्षेप में दिग्दर्शन करते हुए मीमांसकों के वाक्यार्थ निमित्त सम्बन्धी प्राभाकर एवं भाट्ट मीमांसकों के अन्विताभिधानवाद एवं अभिहितान्वयवाद पर विचार-विमर्श किया गया है। वाचस्पति मिश्र ने जिन पाँच मतों पर विचार किया है, वे संक्षेप में निम्न हैं—

१. स्फोटवादी वैयाकरणों के मतानुसार वाक्यार्थ का निमित्त अखण्ड वाक्य है और वाक्य का पदवर्ण विभाग केवल अविद्याजनित है।[९५]

२. प्राचीन मीमांसकों तथा प्राचीन नैयायिकों के मतानुसार वाक्यार्थ का निमित्त उस अन्तिम वर्ण का ज्ञान है, जो पारमार्थिक पूर्व-पूर्व पदों के अर्थानुभव के संस्कार से युक्त होता है।[९६]

३. कुछ प्राचीन मीमांसक वाक्यार्थ का कारण उस वर्णमाला को मानते हैं, जो हमारी स्मृति के दर्पण पर तत्तद् पद-पदार्थ के अनुभव की भावना के साथ प्रतिबिम्बित रहती हैं।[९७]

४. आकाङ्क्षा, योग्यता तथा सन्निधि के कारण अन्य पदों से अन्वित पदों का अभिधेयार्थ ही वाक्यार्थ है। अन्वित पद ही वाक्यार्थ के अभिधायक हैं।[९८]

५. आकाङ्क्षा, योग्यता तथा सन्निधि आदि से युक्त पदार्थ, जिनकी प्रतीति प्रयुक्त पदों से होती है; वाक्यार्थ को प्रत्यायित करते हैं। अर्थात् पहले पद पदार्थों की प्रतीति कराते हैं, फिर आकाङ्क्षादि से युक्त पदार्थ वाक्यार्थ को प्रत्यायित करते हैं।[९९] यह मत भाट्ट मीमांसकों का है। वाचस्पति मिश्र को वाक्यार्थ विषयक यही मत स्वीकार्य है तभी वे अन्य मतों का पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत कर इस मत के बाद 'इत्याचार्याः' इस सम्मानपरक बहुवचन का प्रयोग कर कुमारिल का सङ्केत करते हैं। कुमारिल का वाक्यार्थ विषयक यह सिद्धान्त अभिहितान्वयवाद के नाम से जाना जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वाचस्पति मिश्र ने वाक्यार्थनिमित्त विषयक जिन पाँच मतों की चर्चा की है, उनमें चौथा एवं पाँचवाँ मत क्रमश: प्राभाकर एवं भाट्ट मीमांसकों का है जिनके वाक्यार्थ से सम्बन्धित सिद्धान्त अन्विताभिधानवाद एवं अभिहितान्वयवाद के नाम से प्रसिद्ध है। चूँकि वाक्यार्थविषयक मीमांसकों के ये सिद्धान्त वाक्यार्थबोध की प्रक्रिया को बतलाने वाले अतिमहत्त्वपूर्ण सिद्धान्त हैं, एतदर्थ इन सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। अत: इन सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार से किया गया है—

२.३.२.१.१. अन्विताभिधानवाद

जैमिनीय सूत्र के भाष्य में शबर स्वामी ने पदों की अर्थबोधक शक्ति पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि सभी पद अपनी शक्ति से अपने अपने अर्थ का असम्बद्ध रूप में अर्थ बोध कराते हैं। अर्थबोध करा लेने पर पदों की शक्ति कृतकार्य होकर विरत हो जाती है। इससे आगे किसी प्रकार के सम्बन्ध आदि का बोध कराना पद शक्ति का कार्य नहीं। जब पद के अर्थ बोधगत हो जाते हैं, तब वे अर्थ ही अपनी शक्ति से अपने पारस्परिक सम्बन्ध का बोध कराते हुए एक वाक्यार्थ का बोध उत्पन्न करते हैं।[१००] वाक्यार्थबोध प्रक्रिया के सम्बन्ध में शबर स्वामी के द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त की नीव पर ही कुमारिल भट्ट तथा प्रभाकर मिश्र ने अपने अपने अभिहितान्वयवादी एवं अन्विताभिधानवादी चिन्तन का प्रासाद खड़ा किया है।

वाक्यार्थविषयक प्रभाकर का सिद्धान्त अन्विताभिधानवाद कहलाता है। इसके अनुसार अन्वित पदों से अन्वित पदार्थों का ही अभिधान होता है, अत: अन्वित पदार्थसमुदाय ही वाक्यार्थ कहलाता है। अपने इस सिद्धान्त की स्थापना करते हुए प्रभाकर ने बृहती में कहा है कि पदों से केवल पदार्थों का ही बोध होता है, वाक्यार्थ का नहीं। वाक्यार्थ की अवगति पदार्थ समुदाय द्वारा होती है। यदि पदों द्वारा वाक्यार्थावगम होता तो एक पदके

हटा लिए जाने पर सकल वाक्यार्थ की अनवगति हो जाती, न कि पदार्थ मात्र की जबकि यह देखा जाता है कि जो पद हटता है, केवल उसी के पदार्थ का ज्ञान नहीं होता। अत: यह सिद्ध होता है कि पदों से पदार्थों का और पदार्थों से परस्पर अन्वित वाक्यार्थ का बोध होता है। इनके अनुसार चूँकि अन्वित पदार्थों का ही अभिधान पदों द्वारा होता है, अत: पदार्थों में अन्वय नहीं करना पड़ता अपितु अन्वित पदार्थसमुदाय ही वाक्यार्थ कहलाता है।[१०१]

अन्विताभिधानवाद का समर्थन करते हुए प्राभाकर मीमांसक शालिकनाथ मिश्र अपने प्रकरणपञ्चिका में अभिहितान्वयवाद का खण्डन करते हुए कहते हैं कि अभिहितान्वयवादी पदों की पदार्थों में तथा पदार्थों की अन्वय में शक्ति मानकर तीसरी कक्षा में अन्वय बोध को अपनाता है। उसकी अपेक्षा अन्वय में भी पदों की शक्ति को स्वीकार करना सरल है, क्योंकि ज्ञान में पदों का स्थान प्रथम है तथा वे ही पदार्थों का अभिधान करते हैं और उन्हीं से तात्पर्य भी अवगत होता है।[१०२] इसे और स्पष्ट करते हुए शालिकनाथ कहते हैं कि पहले पदसमूह का श्रवण होता है, उसके बाद अनन्वित अर्थ का स्मरण और तदनन्तर वृद्धव्यवहाररूप न्याय से अन्वययोग्यता के व्यक्त होने पर बाद में वाक्यार्थ का बोध पदों से ही हो जाता है।[१०३] वे कहते हैं कि स्मरण में आये बिना पदार्थों द्वारा वाक्यार्थ का बोध सम्भव नहीं है, अत: संहत (अन्वित) पदार्थों को ही वाक्यरूप प्रमाण मानना चाहिए। इस प्रकार संहत या अन्वित होकर अर्थ का अभिधान कराने वाले पदों का समूह वाक्य कहलाता है।[१०४] तदनुसार अन्वितार्थ के अभिधायक पदों के अर्थसमूह को वाक्यार्थ माना जाता है। यहाँ पर अभिहितान्वयवादी शङ्का करते हैं कि 'गौ:' कहने पर तो अनन्वित अर्थ का ही बोध होता है, फिर यह अन्वित का सिद्धान्त कैसे मान्य है? इसका उत्तर देते हुए शालिकनाथ कहते हैं कि अन्विताभिधान में भी अनन्वित अर्थ का स्वरूप सदा विद्यमान रहता है, अत: स्वरूपमात्रविषयक स्मृतिजनन में शब्द समर्थ है।[१०५] अर्थात् शब्दप्रमाण के बिना भी कभी-कभी जिस प्रकार अर्थ द्वारा

शब्द का स्मरण करा दिया जाता है, उसी प्रकार अप्रमाण पद द्वारा भी अर्थ स्मरण कराया जा सकता है।[१०६] अभिहितान्वयवादियों की ओर से पुनः आक्षेप किया जाता है कि अर्थज्ञानरूप व्युत्पत्ति वृद्धव्यवहार के अधीन तथा व्यवहार के अन्वितार्थ के अधीन होने से आपके सिद्धान्त में अन्योन्याश्रय दोष है। इस आक्षेप का उत्तर देते हुए शालिकनाथ कहते हैं कि चूँकि स्मृति में अर्थों की सन्निधि बनती है और उन अर्थों से अन्वित अर्थ का अभिधान पद द्वारा होता है, अतः अन्योन्याश्रय की आपत्ति नहीं की जा सकती।[१०७] इस प्रकार शालिकनाथ मिश्र ने अपने ग्रन्थ में अभिहितान्वयवादियों के सभी तर्कों का खण्डन कर अन्विताभिधानवाद को सिद्ध किया है।

जहाँ अभिहितान्वयवादी कुमारिल भट्ट किसी उक्ति की मूल इकाई पद और पदार्थ को मानते हैं वही अन्विताभिधानवादी प्रभाकर की दृष्टि में वाक्य और वाक्यार्थ ही भाषा की मूल और अखण्ड इकाई है। न्यायमञ्जरी में इन दोनों ही वाक्यार्थ धारणा के भेद-अभेद का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि भाषिक अर्थबोध में महत्वपूर्ण होती है— व्युत्पत्ति। व्युत्पत्ति से ही शब्द अर्थ-विशेष का बोध कराता है। यहाँ पर विचारणीय यह है कि क्या सम्पूर्ण वाक्य की एक-एक वाक्यार्थ में व्युत्पत्ति मानी जाय या पद की पदार्थ में व्युत्पत्ति मानी जाय? अन्विताभिधानवादी सम्पूर्ण वाक्य की वाक्यार्थ में व्युत्पत्ति स्वीकार करते हैं।[१०८] जयन्त भट्ट अन्विताभिधान का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि चूँकि पद से पदार्थ अथवा वाक्य से वाक्यार्थ की प्रतीति कराने में व्युत्पत्ति ही कारण होती है, अतः यहाँ विचारणीय है कि आखिर यह व्युत्पत्ति कैसी होती है। इसका निरूपण करते हुए वे कहते हैं कि व्युत्पत्ति वृद्धव्यवहार से होती है। वृद्धों का व्यवहार वाक्य से होता है न कि पद से। अर्थ और प्रकरण से प्राप्त पदार्थान्तर के वेदन में जो पद प्रयुक्त होते हैं, वे वाक्य के रूप में ही कथित होते हैं। वक्ता सम्बद्ध अर्थ की विवक्षा से वाक्य का प्रयोग करता है। श्रोता और तटस्थजन उसे उसी प्रकार समझते भी हैं। यही वाक्य की वाक्यार्थ में व्युत्पत्ति होती है।

जयन्त कहते हैं कि वाक्य क्यों कहा जाता है? इसलिए कि पद आपस में संघात भाव को प्राप्त करके वाक्य होकर अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। वाक्यवेत्ता जन पदसमूह को ही वाक्य कहते हैं। वहाँ जाकर पदसमूह एक अर्थ वाला हो जाता है। यदि एक ही पद का व्यापार होता है तो पद संहत होकर अर्थात् समूह भाव को प्राप्त करके अर्थों का अभिधान नहीं करते, जैसा कि करते हैं। जिस प्रकार काष्ठ आदि बाह्य साधन पाक में व्यापारयुक्त होते हैं और शिविकावाहक जन मिलकर ही शिविका का वहन करते हैं एवं तीन पत्थर मिलकर ही उखा का धारण करते हैं, उसी प्रकार सभी पद मिलकर ही वाक्यार्थ को समझाते हैं। इसलिए यह अन्विताभिधान ही मान्य है। यदि पद अन्य से अनन्वित केवल स्वार्थ को समझाते उसी में उसका पर्यवसान होता तो वाक्यार्थ के लिए सब पदों का व्यापार नहीं होता।[१०९] इस प्रकार जयन्त भट्ट अन्विताभिधानवाद को स्वीकार करने में आने वाली विप्रतिपत्तियों का अनेकविध तर्कों के माध्यम से समाधान करते हुए अन्त में कहते हैं कि पद अन्विताभिधायी ही होते हैं। बुद्धि अन्वित अर्थ की ही होती पायी जाती है। इसलिए व्यतिषङ्ग अर्थात् अन्वय अवगत होता है। यही संसर्ग का मार्ग है, संसर्ग की प्रतीति का कोई और कारण नहीं है। इसलिए अन्विताभिधानवाद उचित है।[११०]

वाचस्पति मिश्र अपने तत्त्वबिन्दु नामक ग्रन्थ में अन्विताभिधानवाद का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं कि अन्विताभिधानवाद के अनुसार वाक्य में प्रयुक्त पद आकाङ्क्षित, आसन्न तथा योग्य होने के कारण सर्वप्रथम अन्वित होते हैं, तदनन्तर वाक्यार्थ की प्रतीति कराते हैं। इस प्रकार पदार्थ ही वाक्यार्थ है तथा वाक्यार्थ ज्ञान के लिए स्फोटशब्द, अन्तिम वर्ण या वर्णमाला को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।[१११] प्रभाकर के इस मत पर अभिहितान्वयवादी आक्षेप करते हैं कि जब प्रभाकर इस बात को मानते हैं कि पदों की अभिधावृत्ति पद के स्वार्थ तथा अन्वय दोनों को साथ-साथ ही प्रतीत कराती है, तो वाक्य में वाक्यार्थ उनके अर्थ से प्रतीत होता है कि नहीं? यदि वे मानते हैं कि पद वाक्यार्थ की प्रतीति नहीं कराते तो इसका

अर्थ यह है कि अकेला प्रथम पद ही वाक्य के भावों की प्रतीति कराता है। इस तरह तो अन्य पदों का प्रयोग व्यर्थ माना जायेगा, क्योंकि वक्ता की विवक्षा एक ही पद से पूरी हो जायेगी। यदि यह कहा जाय कि अन्य पद भी वाक्यार्थ प्रतीति कराते हैं तो जबतक वाक्य का प्रत्येक पद अन्य शेष पदों से अन्वित नहीं होगा तबतक अर्थप्रतीति नही करा सकेगा अर्थात् वाक्य का प्रत्येक पद एक दूसरे पर आश्रित रहेगा। इस प्रकार आपके (अन्विताभिधानवाद) मत में इतरेतराश्रय दोष पाया जाता है।[११२]

प्रभाकर इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि यदि हम ऐसा न माने तो हमें दो या तीन शक्तियाँ माननी, पड़ेगी, एक पदों के अपने अर्थ की प्रतीति करायेगी, फिर दूसरी उनका अन्वय करायेगी तथा तीसरी उन अन्वित पदार्थों से वाक्यार्थ की प्रतीति करायेगी जबकि अन्विताभिधान में पदों की एक ही शक्ति माननी पड़ती है, इसलिए कल्पनालाघव होने से यही पक्ष न्याय्य है।[११३] इस प्रकार वाचस्पति मिश्र ने तत्त्वबिन्दु में अभिहितान्वयवादियों के द्वारा प्रस्तुत की गयी सभी शङ्काओं का समाधान करते हुए अन्विताभिधानवाद के पक्ष में प्रस्तुत किये गये प्राभाकर मीमांसकों के तर्कों पर पर्याप्त विचार-विमर्श किया है।

अन्विताभिधानवादियों के मत की जानकारी मम्मट के काव्यप्रकाश से भी मिलती है, जिन्होंने व्यञ्जनावृत्ति की स्थापना के प्रसङ्ग में इस पर विचार-विमर्श किया है। मम्मट के द्वारा उद्धृत इस मत को हम अगले अध्याय में उनके तात्पर्यवृत्तिविषयक विवेचन के प्रसङ्ग में देखेंगे।

२.३.२.१.२. अभिहितान्वयवाद

वाक्यार्थबोध की प्रक्रिया में कुमारिल भट्ट ने जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे, वह अभिहितान्वयवाद के नाम से जाना जाता है। जैसा कि अन्विताभिधानवाद के विवेचन के प्रसङ्ग में कहा जा चुका है कि भाष्यकार शबर स्वामी के वाक्यार्थ सम्बन्धी कथनों की व्याख्या करके ही वाक्यार्थबोध विषयक अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद का प्रतिपादन कुमारिल

भट्ट एवं प्रभाकर मिश्र द्वारा किया गया। कुमारिल भट्ट ने भाष्यकार के कथन का आशय यह बतलाया है कि पद अपने-अपने अर्थ को व्यक्त करके उपरत हो जाते हैं। पदार्थ के अवगत हो जाने पर वे पदार्थ परस्पर अन्वित होकर वाक्यार्थ का बोध कराते हैं। यहाँ कुमारिल भट्ट पदार्थों का बोध तो अभिधावृत्ति से जबकि उन पदार्थों से वाक्यार्थ के लिए लक्षणावृत्ति का आश्रय लेते हैं। चूँकि इस सिद्धान्त में पहले पदों का अर्थ ज्ञात होता है फिर उन अभिहित पदार्थों के अन्वय से वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, अतः अभिहित पदार्थों में अन्वय कराने वाला यह सिद्धान्त अभिहितान्वयवाद कहलाता है। ध्यातव्य है कि इस सिद्धान्त में जहाँ कुमारिल भट्ट ने पदार्थों में अन्वय कराकर वाक्यार्थबोध कराने के लिए लक्षणावृत्ति का आश्रय लिया है, वहीं इनके कुछ अनुयायियों ने इसके लिए एक तात्पर्य नामक स्वतन्त्र वृत्ति की कल्पना किया है।

अभिहितान्वयवाद की मूल मान्यता यह है कि अन्वय के बिना पदार्थ समूह वाक्यार्थ नहीं बन सकता। इस विषय में कुमारिल भट्ट का कहना है कि यदि सभी पदार्थ एक साथ अर्थबोध कराने लगे तो कोई ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि अनेक पदार्थों के अनेक ज्ञान होंगे जो एक साथ हो नहीं सकते। कोई भी ज्ञान ज्ञानान्तरनाश्य होता है। अतः अलग से अन्वय तथा अन्वयवृत्ति मानते हुए वाक्यार्थ की व्यवस्था सङ्गत है।[११४] अभिहितान्वयवाद का प्रतिपादन करते हुए भाट्ट मतानुयायी पार्थ सारथि मिश्र ने अपने ग्रन्थ न्यायरत्नमाला मे अन्विताभिधानवाद को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित कर उसमें अनेक दोषों को दिखलाते हुए अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। पार्थसारथि मिश्र के अनुसार अन्विताभिधानवाद का समर्थन नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसमें निम्न दोष हैं—

१. अन्वित अर्थ का अभिधान मानने से अदृष्टकल्पनादोष आता है। जो व्यवहार में नहीं है, उसकी कल्पना अदृष्ट कल्पना है।
२. स्मृत पदार्थों के अन्वय और अन्वित पदार्थों के अभिधान में व्यर्थ कल्पनागौरव है।

३. यह देखा जाता है कि अकेला पद सुनने पर केवल एक अनन्वित अर्थ का बोध होता है। उसे न मानने पर दृष्टबाधदोष आता है, जो कल्पना का दोष है। इसके विपरीत अभिहितान्वयवाद में कल्पना-लाघव और दृष्ट व्यवहार की अनुरूपता है।[११५] इस प्रकार अन्विताभिधानवाद में दोष दिखलाकर सिद्धान्त मत को बतलाते हुए पार्थसारथि मिश्र कहते हैं कि वाक्य अथवा पद साक्षात् वाक्यार्थबोध नहीं कराते, किन्तु पदों द्वारा अभिहित पदार्थों से वाक्यार्थ लक्षित होता है और इस प्रकार वाक्यार्थ अन्वयसहित तात्पर्य का रूप लेता है। वाक्यार्थ ऐसा तात्पर्यार्थ है जिसमें पदार्थ और अन्वय दोनों का योग रहता है। अत: वाक्यार्थ न केवल पदार्थों से भिन्न सत्ता रखता है, अपितु उनसे अधिक भी है क्योंकि उसमें अन्वयांश की अधिकता है।[११६] इस प्रकार वाक्यार्थ का सीधा बोध न तो वाक्य और न ही व्यष्टि पदों द्वारा उत्पन्न होता है, बल्कि वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति पदार्थों द्वारा लक्षणा की सहायता से की जाती है। पदार्थ ही वाक्यार्थ को साक्षात् उत्पन्न करते हैं और व्यष्टि पदों को वाक्यार्थ से केवल अप्रत्यक्ष रूप में अर्थात् शब्दों एवं अर्थों के माध्यम से सम्बद्ध माना जा सकता है। पदों का वाक्यार्थ से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं हो सकता।[११७] इस विषय में कुमारिल भट्ट का भी यही मन्तव्य है।[११८]

नैयायिक जयन्त भट्ट ने अभिहितान्वयवाद का निरूपण अपने न्यायमञ्जरी में किया है। उनके अनुसार वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति नियमत: पदार्थ की प्रतिपत्ति होने पर ही होती है। जिसे पदार्थ का अवगम नहीं होता है, उसे वाक्यार्थ का अवगम नहीं हो पाता है। पदार्थ के प्रविभाग से यह ज्ञात होता है कि इस पद का अर्थ है— जाति, इस पद का अर्थ है— द्रव्य, इस पद का अर्थ है— गुण, और इस पद का अर्थ है— क्रिया।[११९] वह अभिहितान्वयवाद इस प्रकार कल्पित होता है कि वह अर्थात् अविवादित

अर्थ पद के द्वारा कहा जाता है। पदार्थान्तर से उपरक्त रूप में यदि वह अर्थ अभिहित होगा तो उस अर्थ की इयत्ता का ही अवधारण नहीं हो पायेगा, क्योंकि अर्थ की प्रतीति कदम्बाकार अर्थात् समुदाय रूप से होती है।[१२०] यदि यह कहा जाय कि अवाप और उद्वाप के द्वारा उसका अर्थात् इयत्ता का अवधारण होगा तो ऐसा नहीं है, क्योंकि अवाप और उद्वाप के परीक्षा के समय भी कदम्ब अर्थात् समूह की प्रतीति का अभाव नहीं होगा। एक ही कोई वाक्य कही अन्विताभिधायी पदों से ग्रसित होगा और अन्यत्र शुद्ध होगा- ऐसा नहीं कहा जा सकता है, किन्तु यह कहें कि पदों का अर्थ सर्वत्र कदम्ब स्वरूप उपाय से कदम्बस्वरूप ही प्रतीत होता है, तो ऐसी परिस्थिति में पदार्थ का विभाजन दुरवगम होगा अर्थात् उसे समझना कठिन होगा।[१२१]

इस प्रकार अभिहितान्वयवाद के पक्ष में अनेक युक्ति देते हुए जयन्त भट्ट कहते हैं कि यदि अर्थ प्रतिपादन के द्वारा पदान्तर को वाक्यार्थबोध में हेतु का नियम माना जाय तो वह अभिहित अर्थों का अन्वय ही होगा। इसलिए अभिहितान्वयवाद ही श्रेयस्कर प्रतीत होता है। पदों से प्रतिपन्न अर्थात् ज्ञात होने वाले पदार्थ आकाङ्क्षा, सन्निधि और योग्यता के बल पर परस्पर सम्बद्ध होने के योग्य होता है, वह उसके साथ सम्बद्ध होता है, उसके अतिरिक्त और कोई नहीं। इसलिए 'अङ्गुली पर हाथियों का सौ यूथ है' यहाँ पर सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि योग्यता का अभाव है। अन्विताभिधानवादियों के मत में तो अन्वित का ही अभिधान माना जाता है अनन्वित का नहीं, जो कि होता ही नहीं है। इसलिए अभिहित पदार्थों का ही अन्वय मान्य है और वही युक्तियुक्त है।[१२२]

वाचस्पति मिश्र ने तत्त्वबिन्दु में अन्विताभिधानवाद एवं अभिहितान्वयवाद के परस्पर तर्क-वितर्कों का परीक्षण करते हुए सिद्धान्त के रूप में अभिहितान्वयवाद को ही स्थापित किया है। उनके अनुसार कोई भी कार्य देखने पर हम उसके समीपस्थ पूर्ववर्ती पदार्थ को तबतक कारण मान लेते हैं, जबतक कोई बलवान् बाधक उस मान्यता को खण्डित न कर दे।[१२३] जब कभी हमें किसी वाक्य से वाक्यार्थज्ञान होता

है, तो उससे पूर्व हमें पदार्थ की स्मृति होती है, अतः पदार्थस्मृति ही वाक्यार्थज्ञान का हेतु है। साथ ही पदार्थ स्मरणमात्र से वाक्यार्थज्ञान नहीं हो पाता अपितु उसके लिए पदों के अन्वय से घटित पदार्थ का स्मरण भी आवश्यक है। इसलिए हम आकाङ्क्षा, योग्यता एवं आसत्ति से युक्त मानसी पादार्थों के स्मरण को ही वाक्यार्थ का कारण मानते हैं।[१२४] अभिहितान्वयवादियों की इस मान्यता पर अन्विताभिधानवादी मीमांसक अनेक प्रकार से आक्षेप करते हैं जिनका प्रत्याख्यान अभिहितान्वयवादी बड़े ही तार्किक ढंग से करते हैं।[१२५] वाचस्पति मिश्र अन्विताभिधानवादियों के सिद्धान्त में अनेक दोषों का दिग्दर्शन कराने के पश्चात् अभिहितान्वयवाद का समर्थन करते हुए तत्त्वबिन्दु के अन्त में कहते हैं कि पूर्वोक्त दोषाभिधान से यह सिद्ध हो जाता है कि पदों की वाचकता मात्र स्वार्थ मात्र के प्रति है, न कि अन्वयविशिष्ट स्वार्थ के प्रति; क्योंकि अन्वय तो अन्य लभ्य है। अतः अन्विताभिधान में पदों की वाचकता भी नहीं बन सकती। इसलिए कल्पना के लाघव होने से आकाङ्क्षादि सहकारिकारणों से युक्त समभिव्याहृत पदों से स्मारित पदार्थों से लक्षणावृत्ति के द्वारा वाक्यार्थ का ज्ञान होता है और यह वाक्यार्थज्ञान शाब्द है, क्योंकि संसर्गरूप वाक्यार्थ लक्षणावृत्ति से गम्य है और लक्षणा पदार्थों की वृत्ति है जो पदों से उपस्थापित है। इस प्रकार परम्परा सम्बन्ध से पद ही वाक्यार्थ के जनक हैं। अतः वाक्यार्थ शाब्द है। इसलिए शबर स्वामी ने ठीक ही कहा है कि पद अपने-अपने अर्थों का अभिधान करके निवृत्त व्यापार वाले हो जाते हैं, तदनुसार अवगत पदार्थ ही वाक्यार्थ का ज्ञान कराते हैं।[१२६]

उपर्युक्त दोनों मतों (अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद) के अवलोकन के पश्चात हम देखते हैं कि अन्विताभिधानवादियों की मान्यता यह है कि शब्द अन्वित अर्थों का अभिधा से बोध कराते हैं। अर्थ के अन्वित होने के बोध में सम्बन्ध का बोध भी निहित रहता है। प्राभाकर मीमांसकों के अनुसार किसी भी पद का अर्थ अनिवार्यतः दूसरे अर्थ से

सम्बद्ध रहता है। अतः अर्थ और सम्बन्ध को अलग नहीं किया जा सकता। वाक्य में जब एक पदों के साथ अन्य कुछ विशिष्ट पदो का प्रयोग होता है, तब आकाङ्क्षा, योग्यता आदि के आधार पर वाक्यगत पदों के अर्थों में परस्पर कुछ नियत या विशिष्ट सम्बन्ध का बोध सम्भव होता है। पदार्थों का यह विशिष्ट सम्बन्ध ही वाक्य के वास्तविक अर्थ का बोध कराता है। अतः प्राभाकर मीमांसक पद से परस्पर अन्वित अर्थ के अभिधान का सिद्धान्त मानते हैं। कुमारिल भट्ट एवं उनके अनुयायी अभिहितान्वयवादी मीमांसक इस तथ्य को तो स्वीकार करते हैं कि वाक्यार्थ के रूप में विभिन्न पदार्थों का सुघटित बोध होता है पर उनकी धारणा यह है कि पहले पद अपनी अभिधावृत्ति से अपने स्वतन्त्र अर्थ का बोध कराते हैं, फिर पदार्थ-निष्ठ सम्बन्धबोधकवृत्ति लक्षणा या तात्पर्य से उनके पारस्पारिक अन्वय का बोध होता है और इस प्रकार एक सुघटित वाक्यार्थ का ग्रहण होता है। पदों के स्वतन्त्र अर्थों में अन्वय स्थापित करने में आकाङ्क्षा, योग्यता एवं आसत्ति सहायक होती हैं।

२.३.३. वाक्यार्थबोध में तात्पर्यवृत्ति की भूमिका

वाक्य के स्वरूप-बोध के लिए जिस सम्बन्धज्ञान की अपेक्षा होती है, उसकी सत्ता या उसके आश्रय के सम्बन्ध में विचारकों ने दो प्रकार की मान्यताएँ व्यक्त की हैं। वाक्य में सार्थक पदों का प्रयोग होता है, जिनके अर्थ सङ्केतित और नियत होते हैं। वे सङ्केतित अर्थ पदों की अभिधावृत्ति से बोधगम्य होते हैं, पर उन पदों से भिन्न वाक्य में उनके सम्बन्धबोध के लिए किसी साधन का प्रयोग नहीं किया जाता। इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि वाक्य में जिन पदों या पदार्थों का बोध होता है, उन्हीं में कहीं सम्बन्धबोध की शक्ति भी निहित रहती है। अब यहाँ विचारणीय है कि सम्बन्धबोधिका शक्ति की सत्ता किसमें मानी जाय-पदों में या उनके अर्थ में? कुमारिल भट्ट ने सम्बन्धबोध की शक्ति शब्द के अर्थ में मानी है। जयन्त भट्ट के अनुसार वह शब्दनिष्ठ मानी जानी चाहिए, जैसा कि अन्विताभिधानवादी प्रभाकर ने माना है। जयन्त भट्ट ने इस सम्बन्धबोधिका शक्ति को तात्पर्यशक्ति कहा है।[१२७]

जयन्त भट्ट के अनुसार किसी वाक्य के अङ्गभूत सभी पद परस्पर मिलकर पूर्ण वाक्यार्थ का स्वरूप विधान करते हैं। वाक्यार्थ के रूप में घटित होने वाले पदार्थों में से एक पद का अर्थ प्रधान होता है और अन्य पदों के अर्थ उस अर्थ के विशेषणभूत होते हैं। सभी पद अपनी अभिधाशक्ति से अपने-अपने सङ्केतित अर्थ का बोध कराते हैं और अपनी तात्पर्यशक्ति से सम्बद्ध अर्थ का बोध उत्पन्न करते हैं। पदों में अन्तर्निहित यह तात्पर्यशक्ति वाक्यार्थ में पदों की अभिधाशक्ति के साथ ही सक्रिय होती है और पूर्ण वाक्यार्थबोध होने तक क्रियाशील रहती है।[१२८] सम्बन्ध-बोधक शक्ति को अर्थनिष्ठ मानने में जयन्त की आपत्ति यह है कि ऐसा मानने के लिए अर्थ को ज्ञान का स्वतन्त्र साधन मानना पड़ेगा और वैसी स्थिति में वाक्यार्थ को शाब्दबोध नहीं माना जा सकेगा। शबर स्वामी कहते हैं कि पद अपनी-अपनी अभिधा शक्ति से अपने सङ्केतित अर्थ का बोध करा लेने के बाद विरत हो जाते हैं और सम्बन्ध-बोध का कार्य पद के अर्थ करते हैं। जयन्त भट्ट का कहना है कि शब्द की अभिधा शक्ति उनके सङ्केतित अर्थ का बोध करा लेने पर अवश्य ही क्षीण हो जाती है, पर शब्द उसके बाद भी सक्रिय रहते हैं। यह कार्य पद अपनी तात्पर्यशक्ति से करते हैं। शब्द में सम्बन्धबोधक तात्पर्य शक्ति के अन्तर्निहित होने के कारण ही वाक्यार्थबोध को शाब्दबोध कहा जाता है। उदयनाचार्य ने भी तात्पर्यवृत्ति को शब्दनिष्ठ ही बतलाया है। अभिहितान्वयवादी कुमारिल भट्ट एवं उनके अनुयायी पार्थ सारथि मिश्र आदि भाट्ट मीमांसकों द्वारा शब्द की गौणीवृत्ति अर्थात् लक्षणा को वाक्यार्थ-बोध का कारण माना गया है। पदनिष्ठ सम्बन्धबोधक शक्ति को जहाँ जयन्त भट्ट ने तात्पर्यशक्ति कहा है, वही अन्य नैयायिकों ने उसे संसर्ग-मर्यादा की संज्ञा दिया है। नैयायिकों ने लाक्षणिक प्रयोग में विवक्षित अर्थबोध के तीन सोपान स्वीकार किये हैं—

१. अभिधा शक्ति से पदों के अर्थ का बोध।

२. लक्षणाशक्ति से अन्यार्थ का बोध।

३. तात्पर्यशक्ति से सम्बद्ध पदार्थों का वाक्यार्थ के रूप में बोध।

कुमारिल भट्ट के अनुसार लक्षणाशक्ति ही संगत अर्थ देकर बाधित मुख्यार्थ की समस्या का समाधान कर देती है और सम्बद्ध पदार्थों का विवक्षित वाक्यार्थ के रूप में बोध भी करा देती है। अत: सम्बन्धबोध के लिए किसी अतिरिक्त शक्ति की वे बात नहीं करते लेकिन काव्यशास्त्रियों ने अभिहितान्वयवादी भाट्ट मीमांसकों द्वारा तात्पर्य वृत्ति को स्वीकार करने की बात कही है, जिससे इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि कुछ अभिहितान्वयवादी मीमांसकों का ऐसा वर्ग जरूर रहा होगा जिनके बीच तात्पर्यवृत्ति की मान्यता एक स्वतन्त्र वृत्ति के रूप में रही होगी। यह हमारा दुर्भाग्य है कि उनके इस विषय से सम्बन्धित ग्रन्थ सम्प्रति अनुपलब्ध हैं। जयन्त भट्ट ने तात्पर्यवृत्ति को सम्बद्ध पदार्थों से वाक्यार्थ बोध में एक स्वतन्त्र वृत्ति के रूप में स्थापित कर तात्पर्यवादी काव्यशास्त्रियों के मत को दृढ़ता प्रदान किया है। काव्यशास्त्रियों ने तात्पर्यवृत्ति विषयक जो विवेचना किया है, उसपर विशद विचार-विमर्श अगले अध्याय में किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि तात्पर्यवृत्ति को शाब्दिकों के मध्य व्यापक स्वीकृति प्राप्त नहीं हो सकी तथापि तात्पर्यवादी आचार्यों ने वाक्यार्थबोध की प्रक्रिया में इसे यथोचित स्थान प्रदान कर इसकी महती भूमिका का विवेचन अपने ग्रन्थों में यथास्थल किया है।

सन्दर्भ

१. पारिजात कोश, पृ० ८७९

२. "तद्धर्मावच्छिन्नविषयकशाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति तद्धर्मावच्छिन्ननिरूपित-वृत्तिविशिष्टज्ञानं हेतुः। अत एव नागृहीतवृतिकस्य शाब्दबोध:।" – वै०सि०प०ल०म०, शक्तिनिरूपण, पृ० १७

३. "तत्परस्य भाव:, ष्यञ्। (१) वक्तुरिच्छायाम्, (२) अभिप्राये, (३) तत्परतायाञ्च।"– वाचस्पत्यम्, भाग-४, पृ० ३२६६

४. "अथ तद्गोचरप्रवृत्तिनिवृत्तिसाध्यकत्वं तत्परत्वं तच्च भव्यार्थस्य साक्षात्, भूतार्थस्य तु प्रशंसानिन्दावाक्यस्य प्रशस्तनिन्दितस्वार्थप्रतिपादनद्वारा"। –वही।

५. "तात्पर्यम् (तत्परस्य भावः/तत्पर+ष्यञ्) अभिप्रायः इति शब्दकल्पतरु"। – शब्दकल्पद्रुम, द्वितीय काण्ड, पृ० ६०३

६. पारिजात कोश पृ० ३३८

७. "अथ शाब्दबोधसहकारिकारणानि। आकाङ्क्षायोग्यताऽऽसत्तितात्पर्याणि।" – वै०सि०प०ल०म० आकाङ्क्षा विचार, पृ० १०६

८. "एतद् वाक्यं पदं वा एतदर्थबोधायोच्चारणीयमितीश्वरेच्छा तात्पर्यम्।" –वही, तात्पर्य विचार, पृ० ११७

९. "अतएव सति तात्पर्ये 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः' इति शाब्दिकनये घटशब्दात्पटप्रत्ययो नेत्याद्युक्तम्।" –वही, तात्पर्य विचार, पृ० ११७

१०. "नानार्थस्थले लोके तात्पर्यं तु एतत्पदं वाक्यं वा एतदर्थप्रत्ययाय अर्थोच्चार्यते इति प्रयोक्तुरिच्छारूपम्।" –वही, तात्पर्य विचार, पृ० ११७

११. "तात्पर्यनियामकञ्च लोके प्रकरणादिकमेव। अतो भोजनप्रकरणे सैन्धवमानयेत्युक्ते सैन्धवपदेन लवणप्रत्ययो युद्धावसरेऽश्वप्रत्ययः। वेदवाक्ये चैश्वरतात्पर्यादर्थबोधः"। –वही, तात्पर्य विचार, पृ० ११७

१२. "ननु प्रकरणादीनां शक्तिनियामकत्वे शक्त्यैव निर्वाहे किं तात्पर्येणेति चेन्न; अस्माच्छब्दार्थद्वयविशेष्यको बोधो जायतेऽर्थद्वये शक्तिमत्त्वात् तात्पर्यं तु क्वेति न जानीम इत्याद्यनुभवविरोधात्। अत एव च "पय आनय" इत्युक्तेऽप्रकरणज्ञस्य दुग्धं जलं वाऽऽनेयम्। इति प्रश्नः सङ्गच्छते।"–वही, तात्पर्य विचार, पृ० ११७

१३. "कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः।।" –न्या० कु०, ५/१

१४. "धृत्यादेः इति आदिपदात् नाश-परिग्रहः।" –वही, व्याख्या भाग

१५. "कार्यं तात्पर्यम्। तात्पर्यविषय एव शब्दप्रामाण्यमिति तात्पर्यं हि यस्य वेदे स एवेश्वरः।", वही, ५/५, व्याख्या भाग, पृ० १८३

१६. "उद्देश एव तात्पर्यम्, व्याख्या विश्व-दृशः सती।
ईश्वरादि पदं सार्थम् लोकवृत्तानुसारतः।।" –वही, ४/६

१७. "उद्देशः इच्छा-विशेषः.......लोकस्थले स्वतात्पर्यकस्यैव शब्दस्य प्रमाणत्वात् य एव लौकिकाः त एव वैदिकाः इति लौकिकाहमादिपदवत् अलौकिकेऽपि इयमेव व्यवस्था।।"–वही, व्याख्या भाग

१८. "आसत्तिर्योग्यताकाङ्क्षातात्पर्यज्ञानमिष्यते कारणम्।"–न्या० सि० मु० शब्दखण्ड, कारिका ८२

१९. "वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यं परिकीर्तितम्।"–वही, कारिका ८४

२०. "यदि तात्पर्यज्ञानं कारणं न स्यात्तदा सैन्धवमानयेत्यादौ क्वचिल्लवणस्य बोध इति न स्यात्।" –वही, कारिका-८४, वृत्ति

२१. "आदिपदेन विशेषण-संयोगविभागसाहचर्याऽऽभिमुख्यचेष्टादीनामपि तात्पर्यग्राहकत्वं बोध्यम्।" वही, कारिका-८४, किरणावली टीका, पृ० ३४१

२२. "न च तात्पर्यग्राहकप्रकरणादीनां शाब्दबोधे कारणत्वमस्त्विति वाच्यम्, तेषामननुगमात्; तात्पर्यज्ञानजनकत्वेन तेषामनुगमे तु तात्पर्यज्ञानमेव लाघवात्कारणमस्तु।"–वही, कारिका-८४, वृत्ति

२३. "इत्थं च वैदिकस्थलेऽपि तात्पर्यज्ञानार्थमीश्वरः कल्प्यते।" –वही

२४. "न च तत्राध्यापकतात्पर्यज्ञानं कारणमितिं वाच्यम्, सर्गादावध्यापकाभावात्। न च प्रलय एव नास्ति कुतः सर्गादिरिति वाच्यम्, प्रलयस्यागमेषु प्रतिपाद्यत्वात्।" –वही

२५. "इत्थं च शुकवाक्येऽपि ईश्वरीयतात्पर्यज्ञानं कारणम्। विसंवादिशुकवाक्ये तु शिक्षयितुरेव तात्पर्यज्ञानं कारणम्।"– वही, कारिका-८४, वृत्ति

२६. "अन्ये तु नानार्थादौ क्वचिदेव तात्पर्यज्ञानं कारणम्। तथा च शुकवाक्ये विनैव तात्पर्यज्ञानं शाब्दबोधः, वेदे त्वानादिमीमांसापरिशोधिततर्कैरर्थावधारणमित्याहुः।"–वही

२७. "वाक्यजन्यज्ञाने च आकाङ्क्षायोग्यताऽऽसत्तयस्तात्पर्यज्ञानं चेति चत्वारि कारणनि।" वे०प०, आ०प०, पृ० १८९

२८. "तत्र तत्प्रतीतीच्छयोच्चरितत्वं न तात्पर्यम्। अर्थज्ञानशून्येन पुरुषेणोच्चरिताद्वेदार्थ प्रत्ययाभावप्रसङ्गात्। अयमध्यापकोऽव्युत्पन्न इति विशेषदर्शनेन तत्र तात्पर्यभ्रमस्याप्यभावात्। न चेश्वरीयतात्पर्यज्ञानात् तत्र शाब्दबोध इति वाच्यम्। ईश्वरानङ्गीकर्तुरपि तद्वाक्यार्थप्रतिपत्तिदर्शनात्।" वही, पृ० २४७

२९. "तत् प्रतीतिजनन-योग्यत्वं तात्पर्यम्।"– वही

३०. "गेहे घट इति वाक्यं गेहे घटसंसर्ग-प्रतीति-जनन-योग्यं न तु पटसंसर्गप्रतीति-जननयोग्यमिति तद्वाक्यं घटसंसर्गपरं, न तु पटसंसर्गपरमित्युच्यते।" –वही

३१. "न च प्रकरणादिकमेव तत्तच्छाब्दबोधे हेतुः, न तु तात्पर्यज्ञानं इति वाच्यम्। अनुगतप्रकरणादिज्ञानानां हेतुत्वे गौरवात्।" –भा०चि० पृ० ६९

३२. वही, पृ० ६९

३३. "तत्र पदार्थतात्पर्यनिश्चयः संसर्गतात्पर्यनिश्चयश्च तादृशशाब्दबोधे हेतुः, तत्संदेहे शाब्दबोधानुदयात् तात्पर्यभ्रमे च आहार्यशाब्दबोधोदयात्।" –वही

३४. "शुकवाक्ये वेदवाक्ये च ईश्वरतात्पर्यग्रहणे शाब्दबोधः अध्यापकतात्पर्यग्रहणे वा।" –वही

३५. "केचित्तु तात्पर्यज्ञानं लाक्षणिकनानार्थोपस्थितिकालीनतत्पदजन्यलक्षणादिशाब्दबोधे तात्पर्यज्ञानं कारणम्। न चैवं गौरवं सर्वशाब्दे तत्तच्छब्दत्वावच्छिन्ने तत्तत्तात्पर्यज्ञानानाम् अनन्तकार्यकारणभावापेक्षया लघुत्वात् इत्याहुः।।"–वही

३६. "परे तु तात्पर्यज्ञानस्य न हेतुत्वं संभवति तज्ज्ञानासंभवात्। आवश्यकप्रकरण-समभिव्याहारादिना तज्ज्ञानसंभवे 'तद्धेतोः' वेदवाक्यार्थबोध इति न्यायेन (तद्धेतोरेव अस्तु हेतुत्वं, मध्ये किं तेन) तस्य वैयर्थ्यात्। अतो वेदवाक्यार्थबोधे लौकिक-लाक्षणिक-नानार्थस्थलीयशाब्दबोधे च न तात्पर्यज्ञानं हेतुः इत्याहुः।" –वही

३७. त०वा०, ३/४/१२ (उद्धृत-शाब्दबोधमीमांसा , प्रथम भाग, पृ० ४९५)

३८. श्लो० वा०, न्यायरत्नाकरटीका, ७/२३०

३९. भा० दी०, १/१/७

४०. न्या० सु०, पृ० ७३७

४१. वही, पृ० १४४५

४२. "पदानि हि स्वं स्वं पदार्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि। अथेदानीं पदार्था अवगताः सन्तो वाक्यार्थं गमयन्ति हि।"– मी० सू० शा० भा०, १/१/२५

४३. "वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति नः स्थितिः।।" – (बृहट्टीका) - उद्धृत, शाब्दबोधमीमांसा, तात्पर्यविचार, पृ० ४८९

४४. "सन्निध्यपेक्षायोग्यत्वरूपलक्षणलाभतः। आनन्त्येप्यन्वितानां स्यात् सम्बन्धग्रहणं मम।।" न्या० र० मा०, वाक्यार्थप्रकरण, पृ० ९८

४५. "तस्मान्न वाक्यं न पदानि साक्षाद्वाक्यार्थबुद्धिं जनयन्ति किन्तु। पदस्वरूपाभिहितैः पदार्थैः संलक्ष्यतेऽसाविति सिद्धमेव।।" – वही, पृ० १२५

४६. "वृद्धा युवानः शिशवः कपोताः खले यथाऽमी युगपत्पतन्ति। तथैव सर्वे युगपत्पदार्थाः परस्परेणान्वयिनो भवन्ति।।" –न्या० सि० मु० का० ८२, वृत्ति, पृ० ३४३

४७. "नन्वन्यवये पदानां तात्पर्यं तन्निर्वाहिका च वृत्तिः। न च स्वार्थसम्बन्धिनि स्वान्वये तात्पर्याल्लक्षणा, अन्वयविशेषणतया पदार्थोपस्थितिश्च न वृत्तिद्वयविरोध

इति वाच्यम्।" (न्यायकुसुमाञ्जलिप्रकाश) –उद्धृत, डॉ० गौरीनाथ शास्त्री, शब्दार्थमीमांसा, पृ० १८३

४८. "एवं च न चेदियं पदप्रवृत्तिर्लक्षणा लक्षणमन्वेति, भवति तर्हि चतुर्थी, दृष्टत्वात्। अस्तु वा लक्षणैव।" –त० बि०, पृ० १५७

४९. "प्राथम्याभिधातृत्वात् तात्पर्यावगमादपि। पदानामेव सा शक्तिर्वरमभ्युपगम्यताम्।।" –प्र०प०, पृ० ४००

५०. "संस्कृत वाङ्मय कोश", परिभाषा खण्ड, पृ० ३३६

५१. "अभिधात्री मता शक्तिः पदानां स्वार्थनिष्ठता।

तेषा तार्त्यशक्तिस्तु संगर्गावगमावधिः।।" –न्या० म०, आ०-५, पृ० २२१

५२. "वाक्यार्थप्रत्यये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम्। पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम्।।" –वही, आ०, ६, पृ० २२२

५३. "सेयं व्युत्पत्तिमूला पदविसरसमुद्भिद्यमानाऽकुरश्रीः, संस्कारोदारपत्रा कुसुमचयवती प्रोल्लसद्भिः पदार्थैः।

प्रज्ञावल्ली विशाला फलति फलमिदं स्वादुवाक्यार्थतत्त्वैः नैराकाङ्क्ष्यं लसद्भिर्हृदयमुपगते यान्ति यस्मिन् पुमांसः।।" – वही

५४. "पदात्प्रभृति या चैषा प्रज्ञा ज्ञातुर्विजृम्भते। पुष्पिता सा पदार्थेषु वाक्यार्थेषु फलिष्यति।।

तस्मादनया नीत्या सम्प्रत्ययो भवति साधुः। संसृष्टाश्च पदार्था वाक्यार्थ इति न्यवेदि प्राक्।।" –वही, आ० ६, पृ० २२२

५५. "आख्यातं साव्ययकारकविषेषणं वाक्यम्।" म० भा०, २/१/१

५६. "सक्रिया विशेषणं च।", वही

५७. "आख्यातं सविशेषणं।" वही

५८. "एकतिङ्" –वही

५९. "अभेदपूर्वका भेदाः कल्पिता वाक्यवादिभिः।" –वा०प० २/५८

६०. "आह चैव भाष्यकारः। तदस्मान्मन्यामहे पदान्यसत्यानि एकमभिन्नस्वभावकं वाक्यम्। तदबुधबोधनाय पदविभागः कल्पित इति।" –वही, पुण्यराज

६१. "तत्र वाक्यस्फोटो मुख्यस्तस्यैव लोकेऽर्थबोधकत्वात् तेनैवार्थसमाप्तेश्चेति। तदाह न्यायभाष्यकारः 'पदसमूहो वाक्यमर्थसमाप्तौ' इति। अस्य समर्थमिति शेषः।" – वै०सि०प०ल०म०, शक्तिनिरूपण, पृ० ७

६२. "मिथः साकाङ्क्षशब्दस्य व्यूहो वाक्यं चतुर्विधम्।" –श०श०प्र०, का० १३

६३. "सुबन्तं च तिङन्तं च सुबन्तैकसमन्वितम्। सुप्तिङन्तद्वयगर्भं वाक्यमेवं चतुर्विधम् ।।" (वही, रामरूद्री-कृष्णकान्ती टीका, उद्धृत-वाक्यवादः, पृ० ४/१४)

६४. "संहत्यार्थमभिदधति पदानि वाक्यम्।" –मी०शा० ३/३/१४

६५. "वाक्यं नामैकविशिष्टार्थ प्रतिपादनपराणि पदान्येव।।" —न्या० र० मा० पृ० २९

६६. "समभिव्याहारो वाक्यम्।", अ० सं०, पृ० ८४

६७. "वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः।" –सा० द०, २/१

६८. "वाक्योच्चयो महावाक्यमित्थं वाक्यं द्विधा मतम्।" –वही।

६९. "साकाङ्क्षावयवं भेदे परानाकाङ्क्षशब्दकम्। क्रियाप्रधानं गुणवदेकार्थं वाक्यमिष्यते।। व्य० वि०, प्रथम विमर्श, पृ० ४५"

७०. "वाक्यसमयग्राहिका आकाङ्क्षा। सा चैकपदार्थज्ञाने तदर्थान्वययोग्यार्थस्य यज्ज्ञानं तद्विषयेच्छा। अस्यान्वय्यर्थः कः इत्येवं रूपा पुरुषनिष्ठैव। तथापि तस्याः स्वविषयेऽर्थे आरोपः।" –वै०सि०प०ल०म०, आकाङ्क्षाविचार, पृ० १०६

७१. "यत्पदेन विना यस्याननुभावकता भवेत्, आकाङ्क्षा।" –न्या० सि० मु०, कारिका-८४

७२. "पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वमाकाङ्क्षा।" –त० सं०, शब्दखण्ड, पृ० १६०

७३. "पदार्थानां परस्पर-जिज्ञासा-विषयत्व-योग्यत्वमाकाङ्क्षा" –वे०प० आगमपरिच्छेद, पृ० १९१

७४. "आकाङ्क्षा प्रतीतिपर्यवसानविरहः। स च श्रोतुर्जिज्ञासारूपः।" सा०द०, का० २/१, वृत्ति

७५. "योग्यता परस्परान्वयप्रयोजकधर्मवत्त्वम्। तेन 'पयसा सिञ्चति' इति वाक्यं योग्यम्। अस्ति च सेकान्वयप्रयोजकद्रवद्रव्यत्वं योग्यता जले। करणत्वेन जलान्वयप्रयोजकार्द्रीकरणत्वं योग्यता सेकक्रियायाम्। अत एव 'वह्निना सिञ्चति' इति वाक्यमयोग्यम्, वह्नेः सेकान्वयप्रयोजकद्रवद्रव्यत्वाभावात्।।" – वै०सि०प०ल०म०, योग्यताविचार, पृ० ११२

७६. (१) "पदार्थे तत्र तद्वता योग्यता परिकीर्तिता।" –न्या०सि०मु०, का०-८३

(२) "एकपदार्थेऽपरपदार्थसम्बन्धो योग्यतेत्यर्थः।" –वही, वृत्ति

७७. "अर्थाबाधो योग्यता।" –त० सं०, शब्दखण्ड, पृ० १६०

७८. "उद्धृत, भारतीय न्यायशास्त्र, शब्दप्रमाण", पृ० ३३९

७९. "योग्यता च तात्पर्यविषयीभूत संसर्गाबाध:।" –वे०प०, आ० प०, पृ० २०२

८०. योग्यता पदार्थानां परस्परसम्बन्धे बाधाभाव:।। –सा०द०, २/१, वृत्ति

८१. "प्रकृतान्वयबोधाननुकूलपदाव्यवधानमासत्ति:।" –वै०सि०प०लं०म०, आसत्तिविचार, पृ० १६०

८२. "आसत्तिरपि मन्दबुद्धेरविलम्बेन शाब्दबोधे कारणम्। अमन्दबुद्धेस्त्वसत्त्यभावेऽपि पदार्थोपस्थितावाकाङ्क्षादितोऽविलम्बेनैव बोधो भवतीति न बोधो तस्या: कारणत्वम्।" –वही

८३. "सन्निधानं तु पदस्यासत्तिरुच्यते।" –न्या० सि० मु०, का० ८२

८४. "पदानामविलम्बेनोच्चारणं सन्निधि:।" –त० सं०, शब्दखण्ड, पृ० १६०

८५. "अविलम्बेन पदार्थोपस्थिति: सन्निधि:।" –वही, तर्कदीपिका, पृ० १६०

८६. "आसत्तिश्चाव्यवधानेन पदजन्य-पदार्थोपस्थिति:।" –वे०प०, आ० प०, पृ० २०४

८७. "आसत्तिर्बुद्ध्यविच्छेद:।" –सा० द०, २/१, वृत्ति

८८. "तस्मात् फलस्य साध्यत्वात्सर्वत्र तदवर्जनात्।" क्रियादीनां च तादर्थ्यात्तस्य वाक्यार्थतेष्यते।।" –न्या०म०, आ०-५ पृ० १४३

८९. वही, द्रष्टव्य, पृ० ६५-१४३

९०. "उद्धृत, मिश्र, हरिराम 'व्याकरण तन्त्र का काव्यशास्त्र पर प्रभाव', शब्दशक्तियों का विवेचन," पृ० १११

९१. "विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभान्यैव जायते। वाक्यार्थ इति तामाहु: पदार्थैरुपपादितम्।।" –वा०प०, २/१४३

९२. "तत्राखण्डपक्षे त्रिष्वपि लक्षणेषु प्रतिभा वाक्यार्थ:।" –पुण्यराज, वा०प० २/१

९३. "वाक्यार्थस्य प्रतिभामात्रविषय:। प्रतिभा च जन्मान्तरसंस्कारजापि। यथा मधौ पिकस्य पञ्चमस्वरविशव: जन्मान्तसंस्कारज:। प्रतिभाविषयत्वाच्च प्रतिभा वाक्यार्थ इति।" –वै०सि०प०ल०म०, पृ० ३९७

९४. "सामान्येनाभिप्रवृत्तानां पदार्थानां यद्विशेषोऽवस्थानं स वाक्यार्थ:।।" –मी०सू०, शा० भा०, ३/१/१२

९५. "अनवयवमेव वाक्यमनाद्यविद्योपदर्शितालीकवर्णपदविभागमस्या निमित्तमिति केचिद्।", त०बि०, पृ० २२

९६. "पारमार्थिकपूर्वपूर्वपदपदार्थानुभवजनितसंस्कारसहितमन्त्यवर्णविज्ञानमित्यन्ये।", वही, पृ० ३७

९७. "प्रत्येकवर्णपदपदार्थानुभवभावितभावनानिचय लब्धजन्मस्मृतिदर्पणारूढावर्णमालेत्यन्ये।" –वही, पृ० ४३

९८. "पदान्येवाकाङ्क्षितयोग्यसन्निहितपदार्थान्तरान्वितस्वार्थमभिधायीनीत्यपरे।।" वही, पृ० ५१

९९. "पदैरेव समभिव्याहारवद्भिरभिहिताः स्वार्था आकाङ्क्षायोग्यताऽऽसत्तिध्रीचीना वाक्यार्थधीहेतव इत्याचार्याः।" –वही, पृ० ५८

१००. "पदानि हि स्वं स्वं पदार्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि। अथेदानीं पदार्थाः अवगताः सन्तो वाक्यार्थं गमयन्ति।।" –मी०सू०, शा० भा०, १/१/२५

१०१. "पदेभ्यः पदार्था एवावगम्यन्ते, न वाक्यार्थः। पदार्थसमुदायेन वाक्यार्थोऽवगम्यते। अन्यथा ह्येकपदोद्धारे सकलवाक्यार्थानवगतिरेव स्यात्, न तु पदार्थमात्रस्य। तस्मात् पदेभ्यः पदार्थाः, पदार्थेभ्यः परस्परान्वितावगतिः।" –बृहती, १/१/२४

१०२. "प्राथम्यादभिधातृत्वात् तात्पर्यावगमादपि। पदानामेव सा शक्तिर्वरमभ्युपगम्यताम्।।", प्र०प०, पृ० ४००

१०३. "पदजातं श्रुतं सर्वं स्मारितानन्वितार्थकम्। न्यायसम्पादितव्यक्ति पश्चाद्वाक्यार्थबोधकम्।।" –वही, पृ० ४०१

१०४. "संहत्यार्थमभिदधति पदानि वाक्यम्।" –वही, पृ० ४०२

१०५. "अन्वितस्याभिधानेऽपि स्वरूपं विद्यते सदा। तेन स्वरूपमात्रेऽपि शब्दो जनयति स्मृतिम्।।" – वही, पृ० ४०५

१०६. "यथार्थेनाप्रमाणेन स्वपदं स्मार्यते क्वचित्। पदेनाप्यप्रमाणेन तथार्थः स्मारयिष्यते।।" –वही

१०७. "स्मृतिसन्निहितैरेवमर्थैरन्वितमात्मनः। अर्थमाह पदं सर्वमिति नान्योन्यसंश्रयः।।" –वही, पृ० ४०६

१०८. "तत्रेदं विचार्यम्, व्युत्पत्तिर्बलीयसी शब्दोऽर्थवगमयति व्युत्पत्तिमन्तरेण। व्युत्पत्तिश्च किं वाक्यस्य वाक्यार्थे पदस्य वा पदार्थे इति। यदि वाक्यस्य वाक्यार्थे व्युत्पत्तिस्तदान्विताभिधानम्। पदस्य पदार्थे व्युत्पत्तावभिहितान्वय इति।" –न्या० म०, आ० ६, पृ० २०५

१०९. "व्युत्पत्तिश्च वृद्धव्यवहाराद् वृद्धानां च व्यवहारो वाक्येन न पदेन केवलस्य पदस्याप्रयोगात्।

'अर्थप्रकरणप्राप्तपदार्थान्तरवेदने। पदं प्रयुज्यते यत्तद्वाक्यमेवोदितं भवेत्।।

वक्ता वाक्यं प्रयुङ्क्ते च संसृष्टार्थविवक्षया। तथैव बुद्ध्यते श्रोता तथैव च तटस्थिता:।।

सेयं वाक्यार्थे व्युत्पत्ति:। वाक्यं च किमुच्यते संहत्यार्थमभिदधति पदानि वाक्यम्। एकार्थ: पदसमूहो वाक्यमिति वाक्यविद:। तत्रायं पदसमूह एकार्थो भवति। एवं न संहत्यार्थमभिदध्यु: पदानि यद्येकस्यैव पदस्य व्यापार:। यथा हि बाह्यानि कारणानि काष्ठादीनि पाके व्याप्रियन्ते यथा च शिविकाया: उद्यन्तार: सर्वे शिविकामुद्यच्छन्ति यथा त्रयोऽपि ग्रावाण उखां बिभ्रति तथा सर्वान्येव पदानि वाक्यार्थमवबोधयन्ति। तदिदमन्विताभिधानम्। अन्यानन्वितनिष्कृष्ट स्वार्थपर्यवसायित्वे हि सति न सर्वेषां वाक्यार्थव्यापार: स्यात्।'' –वही, आ० ६, पृ० २०८

११०. ''तस्मादन्विताभिधायीनि पदानीति स्थितम्। एष एव हि संसर्गपन्था:।
व्यतिषक्तार्थबुद्ध्या हि व्यतिषङ्गोऽवगम्यते। अपरं तु न संसर्गप्रतीतेरस्ति कारणम्।।''
.......तस्मादन्विताभिधानमेवाभिधानं युक्तम्। –वही, पृ० २१२

१११. ''पदान्याकाङ्क्षितासन्नयोग्यार्थान्तरसङ्गतान्। स्वार्थानभिदधन्तीह वाक्यं वाक्यार्थगोचरम्। पदार्थमेव हि (एकं) प्रधानं गुणभूतार्थान्तरव्यतिषक्तं वाक्यार्थमाचक्षते धीरा:। तं च पदान्येवाकाङ्क्षाद्युपधानलब्धसुकरव्यतिषक्तानि प्रयोजयितुमीशत इति कृतमप्रामाणिकानुपपद्यमानानवयववाक्यादिकल्पनाभि:।'' –त० बि०, पृ० २१६

११२. पदान्तरस्य वैयर्थ्यमश्रुतान्वयबोधने। श्रुतान्विताभिधाने तु व्यक्तमन्योन्यसंश्रयम्।।''
–वही, पृ० २१९

११३. ''.......तथा च तिस्र: शक्तय: कल्प्येरन्द्वे वा! पदानां हि तावदर्थरूपाभिधानरूपाशक्ति: तदर्थरूपाणामन्योन्यान्वयशक्ति: तदाधानशक्तिश्चापरा पदानामेवेति। स्मारकत्वपक्षे तूक्तं शक्तिद्वयम्। अन्विताभिधाने तु पदानामेकैव शक्ति:। तत्काल्पनालाघवादेतदेव न्याय्यमिति।'' –वही, पृ० २६३

११४. ''ज्ञानानां क्रमवर्तित्वाद् यौगपद्येऽप्यसम्भव:। तेन तत्समुदायोऽपि न वाक्यार्थ: प्रतीयते।।'' –श्लो० वा०, वाक्याधिकरण, का०-९

११५. ''अत्राभिधीयते नैतन्मतमप्युपपत्तिमत्। अदृष्टकल्पनैतस्मिन् मते हि स्याद् गरीयसी। दृष्टबाधप्रसङ्गश्च तस्मादभिहितान्वय:। दृष्टानुगुण्यं तत्र स्यात् कल्पना च लघीयसी।।''
–न्या० र० मा०, वाक्यार्थनिर्णय-का० १०-११

११६. ''तस्मान्न वाक्यं न पदानि साक्षात् वाक्यार्थबुद्धिं जनयन्ति किन्तु। पदस्वरुपाभिहितै: पदार्थै: संलक्ष्यतेऽसाविति सिद्धमेतत्।'' –वही, का० ४३

११७. "अत्रापि हि तिरोहितेष्वेव पदेषु पदार्थानुसन्धानानन्तरमवगम्यमानस्य वाक्यार्थस्य पदार्था एवं साक्षात्साधनम्, पदानि तु तद्द्वारेणैव साधनं न सक्षात्।।" –वही, पृ० १०५

११८. "पदार्थानुगतश्चैष वाक्यार्थो गभ्यते सदा। न विशिष्टार्थता तस्माद्वाक्स्वातन्त्र्यसाधिनी। न विमुञ्चन्ति सामर्थ्यं वाक्यार्थेषु पदानि नः। तन्मात्रावसितेष्वेषु पदार्थेभ्यः स गम्यते।।" –श्लो० वा०, वाक्याधिकरण, श्लोक-२२८-२२९

११९. किं तावत्प्राप्तमभिहितान्वय इति पदार्थे प्रतिपत्तिपूर्वकत्वाद्वाक्यार्थप्रतिपत्तेः। न ह्यनवगतपदार्थस्य वाक्यार्थसम्प्रत्ययो दृश्यते। पदार्थप्रविभागाच्च गम्यतेऽस्य पदस्य जातिरर्थोऽस्य द्रव्यमस्य गुणोऽस्य क्रियेति।" –न्या० म०, आ-६, पृ० २०५

१२०. "स चैवमवकल्पते यदि तावत्सोऽर्थः पदैरभिधीयते। पदान्तरार्थोपरक्ते तु तस्मिन्नभिधीयमाने तदर्थेयत्तैव नावधार्यते कदम्बाकारप्रतीतेः।" –वही

१२१. "अवापोद्वापाभ्यां तदवधारणमिति-चेन्मैवम्। अवापोद्वापपरीक्षावसरेऽपि कदम्बप्रतीत्यनपायात्। न ह्येकमेव किञ्चिद्वाक्यमन्विताभिधायिपदग्रथितम्। अन्यत्र तु शुद्ध पदानामर्थः। किन्तु सर्वत्र कदम्बकरूपादुपायात्कदम्बरूपमुपेयं प्रतीयते इति दुरवगमः पदार्थविभागः।" –वही, पृ० २०५

१२२. "अर्थप्रतिपादनेन तु पदान्तरं यदि नियमहेतुः सोऽयमभिहितानामार्थानामन्वय उक्तो भवति। तस्मात् स एव श्रेयान् पदेभ्यः प्रतिपन्नास्तावदर्था आकाङ्क्षासन्निधियोग्यत्ववशेन परस्परमभिसम्बन्ध्यते। यो येनाकाङ्क्षितो यश्च सन्निहितो यश्च सम्बन्धुं योग्यः स तेन सम्बन्ध्यते नातोऽपरः। अत एवाङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इति नास्ति सम्बन्धः योग्यत्वाभावात्। अन्विताभिधानवादिनां तु अन्वितस्याभिधानात्तत्राप्यन्वयः प्राप्नोति स च नास्ति। तस्मादभिहितानामेव पदार्थानामन्वय इति युक्तम्", वही, पृ० २०७

१२३. "एष तावदौत्सर्गिको न्यायो यदसति बलवद्बाधकोपनिपाते-
सहकारिणि कार्ये च प्रत्यासन्नं हि कारणम्। सति तद्भावभावित्वे तया चायंस्मृतिः पदात्।।" –त० बि०, पृ० २४३

१२४. "तद् अमूषामेव स्वार्थस्मृतीनामाकाङ्क्षायोग्यताऽऽसत्तिसहकारिणीनां करणत्वं वाक्यार्थप्रत्ययं प्रत्यध्यवस्यामः।।" –वही, पृ० २४६

१२५. द्रष्टव्य, वही, पृ० २४९-३१८

१२६. "तस्मादभिधातृत्वमपि नान्विताभिधान इति कल्पनालाघवादाकाङ्क्षादिलक्षण-सकहारिप्रत्यासन्नैश्च समभिव्याहृतपदस्मारितैः पदार्थैः प्रत्यासत्त्या गम्यमानो वाक्यार्थो

लाक्षणिकः शब्दश्चेति रमणीयम्। तस्मात्सुष्ठूक्तं पदानि स्वं स्वमर्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि अथेदानीं पदार्थाः अवगताः सन्तो वाक्यार्थमवगमयन्ती'ति।" –वही, पृ० ३१८

१२७. "पदानां हि द्वयी शक्तिरभिधात्री तात्पर्यशक्तिश्च। तत्राभिधात्री शक्तिरेषां पदार्थेषूपयुक्ता तात्पर्यशक्तिश्च वाक्यार्थे पर्यवस्यतीति।" –न्या० म०, आ-६, पृ० १९१

१२८. "यद्यपि पदानि स्वं स्वमर्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि, तथापि यदर्थपराणि तत्रानिवृत्तव्यापाराण्येवेति।" –वही, पृ० १९१

तृतीय अध्याय

काव्यशास्त्रीय तात्पर्यवृत्तिविषयक विचार

मानव अपने लौकिक क्रियाकलापों को सम्पन्न करने के लिए जिस सार्थक साधन को अपनाता है, वह लोक में भाषा के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि भाषा की मूल इकाई क्या है, इसको लेकर भाषाविदों में वैचारिक मतभेद अवश्य है तथापि अनेक वैचारिक मतभेदों के बावजूद मनुष्य भाषा के जिस सार्थक इकाई के माध्यम से अपने विचारों को अभिव्यक्त करने में पूर्णरूपेण समर्थ हो पाता है, उसे वाक्य कहते हैं। अतः वाक्य ही भाषा का वह सार्थक इकाई है, जिसके माध्यम से वक्ता अपने सम्पूर्ण विचारों को श्रोता तक सम्प्रेषित करने में सफल हो पाता है। लौकिक व्यवहार को सम्पन्न करने के लिए हम जिन वाक्यों का प्रयोग करते हैं उनके क्या अर्थ होते हैं एवं उनसे कैसे अर्थ की प्राप्ति होती है, इसे लेकर भारतीय चिन्तन परम्परा में दो प्रकार की अवधारणा व्यक्त की गयी है। प्रथम अवधारणा के अनुसार चूँकि वाक्यों का निर्माण पदों से मिलकर होता है अतः सर्वप्रथम हम पदों के अर्थ ज्ञात करते हैं जिन्हें पदार्थ कहते हैं, तदनन्तर वे पदार्थ परस्पर अन्वित होकर वाक्यार्थ का प्रतिपादन करते हैं। वाक्यार्थबोध सम्बन्धी यह अवधारणा भाट्ट मीमांसकों की है जिसे अभिहितान्वयवाद के नाम से जाना जाता है। वाक्यार्थ प्रतिपादन की दूसरी अवधारणा प्राभाकर मीमांसकों की है जिनके अनुसार पदार्थों का अन्वय नहीं करना पड़ता बल्कि अन्वित पदार्थों से ही हमें वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। अर्थात् पदार्थ ही वाक्यार्थ कहलाते हैं।

वाक्यार्थ प्रतिपादन के रूप में प्रसिद्ध उपर्युक्त दोनों ही सिद्धान्तों से वाक्यार्थबोध के लिए आचार्यों ने तीन वृत्तियों की कल्पना की है— अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्य। इन तीनों वृत्तियों में से अन्विताभिधानवादी आचार्य प्रमुखतया अभिधा वृत्ति को ही स्वीकार करते हैं तथापि लाक्षणिक अर्थ के लिए लक्षणा भी उन्हें स्वीकार्य है। अभिहितान्वयवादी आचार्यों में कुछ प्रारम्भिक आचार्य केवल अभिधा एवं लक्षणा को जबकि बाद के कतिपय आचार्यों ने अभिधा एवं लक्षणा के साथ तात्पर्यवृत्ति को भी स्वीकार किया है। इन सबका विवेचन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। इस प्रकार लोक व्यवहार में प्रयुक्त वाक्यों से हमें वाक्यार्थबोध कैसे होता है, इस पर वैयाकरणों एवं दार्शनिकों ने पर्याप्त विवेचन करते हुए अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्य इन तीन वृत्तियों के माध्यम से वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ एवं तात्पर्यार्थ पर सम्यक् विचार विमर्श किया। यह तो रही लौकिक भाषा में वाक्यार्थबोध की पृष्ठभूमि। जहाँ तक काव्यों में प्रयुक्त भाषा की बात है तो काव्यभाषा का वैशिष्ट्य काव्यशास्त्र के अध्ययन करने से स्वतः ज्ञात हो जाता है। चूँकि काव्यभाषा लौकिक भाषा से विशिष्ट होती है, अतः काव्यार्थ बोध के लिए काव्यशास्त्रियों ने एक व्यञ्जना नामक वृत्ति की उद्भावना कर उपर्युक्त तीन अर्थों के अलावा व्यङ्ग्यार्थ का प्रतिपादन किया। लोक में जहाँ अभिधावृत्ति से बोध्य वाच्यार्थ का प्राधान्य रहता है, वही काव्यशास्त्र में व्यञ्जना का साम्राज्य स्थापित है।

जहाँ अन्विताभिधानवादी प्राभाकर मीमांसक वाक्यार्थ के प्रतिपादन में अभिधावृत्ति को पूर्ण समर्थ मानते हैं वहीं अभिहितान्वयवादी कुमारिल भट्ट एवं उनके अनुयायी पार्थ सारथि मिश्र आदि अभिधा के साथ लक्षणा को जबकि कतिपय परवर्ती अभिहितान्वयवादी मीमांसक एवं जयन्त भट्ट प्रभृति नैयायिक तात्पर्यवृत्ति को वाक्यार्थ प्रतिपादन में महत्त्वपूर्ण मानते हैं। जहाँ तक काव्यशास्त्रियों के काव्यार्थबोध की बात है, तो वे काव्यार्थबोध

में व्यङ्ग्यार्थ के प्रतिपादन के लिए लक्षणा एवं तात्पर्यवृत्ति को असमर्थ बतलाकर व्यञ्जनावृत्ति का प्रतिपादन करते हैं। तात्पर्यवादियों के अनुसार वाक्य से हमें जितने भी प्रकार के अर्थों का बोध होता है, वे सभी तात्पर्यार्थ कहलाते हैं और उनका बोध तात्पर्यवृत्ति के माध्यम से होता हे। इस प्रकार तात्पर्यवादी आचार्यों के अनुसार काव्यार्थ भी तात्पर्यार्थ ही होता है तथा उसका बोध तात्पर्यवृत्ति से होता है। तात्पर्यवादी काव्यशास्त्री धनञ्जय-धनिक इसी मत के समर्थक हैं। ध्वनिवादी आचार्यों ने तात्पर्यवादियों के इस मत का खण्डन कर व्यङ्ग्यार्थ को काव्यार्थ के रूप में प्रतिष्ठापित कर उसके प्रतिपादन में तात्पर्यवृत्ति की असमर्थता को सिद्ध करते हुए व्यञ्जनावृत्ति को स्थापित किया है। इस प्रकार यदि हम काव्यशास्त्र में तात्पर्यवृत्तिविषयक काव्यशास्त्रियों के मन्तव्यों पर विचार करें तो मोटे तौर पर उन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है। तात्पर्यवृत्तिविषयक विचार करने वाले काव्यशास्त्रियों में एक ओर ध्वनिवादियों को तथा दूसरे ओर ध्वनिविरोधियों को रखा जा सकता है। ध्वनिवादियों में भी जिन ध्वनिवादी आचार्यों ने तात्पर्यवृत्तिविषयक विचार-विमर्श किया है, उन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम वर्ग में वे ध्वनिवादी आचार्य आते हैं जिन्होंने तात्पर्यवृत्ति द्वारा बोधित तात्पर्यार्थ को वाक्यार्थ बतलाकर तात्पर्यवृत्ति के क्षेत्र को सीमित करते हुए व्यङ्ग्यार्थ को तात्पर्यार्थ से पृथक् एवं उसके प्रतिपादन में तात्पर्यवृत्ति को असमर्थ बतलाकर व्यञ्जना वृत्ति को सिद्ध किया हैं। इस वर्ग में आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट्ट एवं विश्वनाथ का नाम लिया जा सकता है। द्वितीय वर्ग के आचार्य जिनमें विद्याधर एवं विद्यानाथ प्रमुख हैं, तात्पर्यार्थ को स्वीकार ही नहीं करते। उनके अनुसार तात्पर्यार्थ व्यङ्ग्यार्थ ही है, व्यङ्ग्यार्थ से अतिरिक्त तात्पर्यार्थ की सत्ता नहीं है। इस प्रकार वे अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना के अतिरिक्त तात्पर्यवृत्ति को अलग स्वीकार करने वाले मत का खण्डन करते हैं। तृतीय

वर्ग में भोजराज को रखा जा सकता है, जिनका तात्पर्यविषयक मत सबसे अलग है। भोज ने तात्पर्यवादियों एवं ध्वनिवादियों में समन्वय स्थापित करे हुए तात्पर्य एवं ध्वनि दोनों में अभेद स्थापित किया है।

ध्वनिविरोधी सभी काव्यशास्त्रियों ने तात्पर्यवृत्तिविषयक विचार नहीं किया है। ध्वनिविरोधियों में तात्पर्यवृत्ति की चर्चा सर्वप्रथम महिम भट्ट द्वारा व्यक्तिविवेक नामक ग्रन्थ में की गयी है, जहाँ उन्होंने तात्पर्यवृत्ति द्वारा तात्पर्यार्थ के प्रतिपादन करने वाले मंत का खण्डन करते हुए तात्पर्यार्थ को अनुमेय माना है। ध्वनिविरोधियों में तात्पर्यवृत्ति के प्रबल समर्थक एवं काव्यशास्त्र में तात्पर्यवृत्ति के प्रतिष्ठापक आचार्य धनञ्जय एवं धनिक हैं। इन्होंने ध्वनिवादियों द्वारा तात्पर्यवृत्ति के विरोध में प्रयुक्त किये गये तर्कों का खण्डन कर काव्यशास्त्र में तात्पर्यवृत्ति को अपेक्षित विस्तार प्रदान करने का प्रयास किया है। तात्पर्यवृत्ति से सम्बन्धित धनिक का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ **'काव्यनिर्णय'** है जो सम्प्रति अनुपलब्ध है, लेकिन धनिक ने इस ग्रन्थ की कुछ कारिकाओं को दशरूपक की कारिकाओं पर लिखित अपनी अवलोकवृत्ति में उद्धृत किया है, जिससे तात्पर्यविषयक धनिक के विचार को समझने में सहायता मिलती है।

इस प्रकार इस अध्याय में ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त, भोज, मम्मट, विद्यानाथ एवं विश्वेश्वर के तात्पर्यार्थ तथा तात्पर्यवृत्तिविषयक मन्तव्यों पर विचार करते हुए, ध्वनिविरोधी आचार्य महिम भट्ट के तात्पर्यवृत्तिविषयक मन्तव्य पर दृष्टिपात कर ध्वनिविरोधी एवं तात्पर्यवादी आचार्य धनञ्जय-धनिक की तात्पर्यविषयक मान्यताओं पर विचार करते हुए काव्यशास्त्रीय तात्पर्यवृत्ति के स्वरूप को समझने का प्रयास किया गया है। तात्पर्यवृत्ति पर विचार करने वाले काव्यशास्त्रियों को निम्न तालिका के माध्यम से देखा जा सकता है—

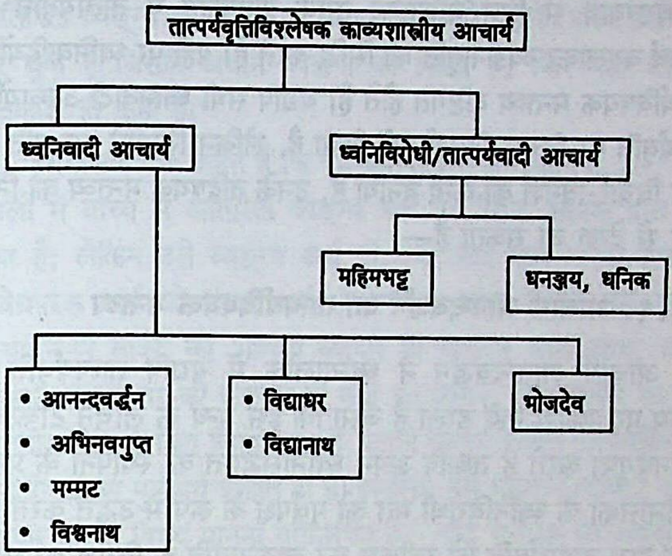

३.१. ध्वनिवादी आचार्य एवं तात्पर्यवृत्तिविषयक उनका मन्तव्य

काव्यशास्त्रियों में शब्दवृत्तियों का स्पष्ट विवेचन ध्वनिवादियों से प्रारम्भ होता है। ध्वनि सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य आनन्दवर्द्धन ने पहले से प्रचलित अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्य नामक वृत्तियों में व्यञ्जना नामक चतुर्थ वृत्ति की कल्पना कर काव्यशास्त्र में एक नये अध्याय का सूत्रपात किया। आनन्दवर्द्धन ने व्यञ्जनावृत्ति के माध्यम से काव्यशास्त्र में जिस व्यङ्ग्यार्थ का बीजारोपण किया उसे बाद के अभिनवगुप्त, मम्मट एवं विश्वनाथ आदि परवर्ती आचार्यों ने अपेक्षित विस्तार प्रदान कर उसे पुष्पित पल्लवित करने में अपनी महती भूमिका निभायी।

ध्वनिवादी आचार्य व्यञ्जना व्यापार की सिद्धि के प्रसङ्ग में तात्पर्यवादियों द्वारा स्वीकृत तात्पर्यार्थ एवं उसके बोधक तात्पर्यवृत्ति को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित कर उसका खण्डन करते हुए अपने सिद्धान्त की स्थापना करते हैं। जहाँ तात्पर्यवादी आचार्यों ने व्यङ्ग्यार्थ को भी तात्पर्यार्थ ही बतलाकर उसे तात्पर्यवृत्ति द्वारा बोध्य बतलाया है, वही ध्वनिवादी आचार्य तात्पर्यार्थ

को व्यङ्ग्यार्थ से भिन्न बतलाकर उसके प्रतिपादन में तात्पर्यवृत्ति को असमर्थ बतलाकर व्यञ्जनावृत्ति की सिद्धि करते हैं। यही पर ध्वनिवादियों के तात्पर्यविषयक मन्तव्य दृष्टिगत होते हैं। यद्यपि सभी ध्वनिवादी आचार्यों ने तात्पर्यवृत्ति पर विचार-विमर्श नहीं किया है, लेकिन जिन्होंने इस वृत्ति को अपने विचार-विमर्श का केन्द्र बनाया है, उनके तद्विषयक मन्तव्य को निम्न प्रकार से देखा जा सकता है—

३.१.१. आचार्य आनन्दवर्द्धन का तात्पर्यविषयक मन्तव्य

आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ध्वन्यालोक में यद्यपि तात्पर्यवृत्ति के स्वरूप पर प्रकाश नहीं डाला है जैसा कि इस ग्रन्थ के लोचन टीकाकार अभिनवगुप्त करते हैं तथापि अपने ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना के प्रसङ्ग में मीमांसकों के ध्वनिविरोधी मत को पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत करते हुए उनके द्वारा तात्पर्यवृत्ति को स्वीकार कर व्यञ्जनावृत्ति के विरोध का सङ्केत अवश्य किया गया है। आचार्य द्वारा मीमांसकों के ध्वनिविरोध की केवल संभावना की गयी है।[१] यहाँ आनन्दवर्द्धन पूर्वपक्ष के रूप में स्वयं मीमांसकों के ध्वनिविरोधी मत की संभावना करते हुए उनके ध्वनिविरोधी सिद्धान्त को उपस्थापित करते हुए अन्ततोगत्वा उनके सिद्धान्त का खण्डन एवं ध्वनिसिद्धान्त का मण्डन करते हैं। मीमांसकों के भाट्ट एवं प्राभाकर सम्प्रदाय के सिद्धान्तों अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद का विवेचन आनन्दवर्द्धन ने एक ही साथ किया है।[२] जबकि अभिनवगुप्त एवं उनके अनुयायी मम्मट आदि आचार्यों ने उनके मतों को पृथक्-पृथक् उपन्यस्त कर खण्डन किया है।

आनन्दवर्द्धन पूर्वपक्षी मीमांसक मत को बतलाते हुए कहते हैं कि मीमांसकों के अनुसार न तो व्यञ्जना नामक व्यापार है और न ही व्यङ्ग्यरूप अर्थ। व्यङ्ग्यार्थ की सिद्धि व्यञ्जना के अधीन तथा व्यञ्जना की सिद्धि व्यङ्ग्यार्थ के अधीन होने से उनमें परस्पर अन्योन्याश्रय दोष पाया जाता है।[३] पूर्वपक्षियों का जबाब देते हुए आनन्दवर्द्धन कहते हैं कि वाच्य से

व्यतिरिक्त व्यङ्ग्य की सिद्धि का प्रतिपादन तो वे पहले (प्रथम उद्योत) ही कर चुके हैं जिसके अधीन व्यञ्जना की सिद्धि है, फिर यहाँ प्रश्न का अवकाश ही कहाँ है।[४]

मीमांसक पुनः कहते हैं कि पूर्व प्रतिपादित 'भ्रम धार्मिक.......' आदि स्थलों में वाच्य से अतिरिक्त व्यङ्ग्य अर्थ की सिद्धि आपके द्वारा किया गया है; लेकिन उसे व्यङ्ग्य अर्थ ही क्यों कहा जाय? उस प्रधानभूत निषेधपरक अर्थ को वाच्य अर्थ ही क्यों न माना जाय? उस अर्थ के प्रत्यायन में वाक्य का अभिधा व्यापार ही क्यों न माना जाय, व्यञ्जना नामक व्यापारान्तर की कल्पना ही क्यों की जाय? चूँकि वाक्य का प्रयोग जितनी प्रतीति के लिए किया जाता है, उतनी सम्पूर्ण प्रतीति तात्पर्यविषयीभूत होने के कारण मुख्यार्थ प्रतीति ही है। इसलिए उसे मुख्यार्थ मानकर अभिधा व्यापार का ही विषय मानना युक्तिसंगत है।[५] यदि यहाँ पर ध्वनिवादी शङ्का करें कि 'भ्रम धार्मिक.......' आदि स्थलों में निषेधपरक अर्थ को वाच्यार्थ मान लिया जाय तो प्रथम प्रतीत होने वाले अर्थ को क्या माना जायेगा? तो मीमांसकों का उत्तर होगा कि उक्त स्थलों में प्रथम विधिपरक अर्थ तो तात्पर्यविषयीभूत निषेधपरक द्वितीय अर्थ का उपायमात्र है। द्वितीय अर्थ भी अवान्तर वाच्यरूप ही है, किन्तु वह उपायरूप का वाच्य है। वहाँ प्रथम विधिपरक अर्थ द्वितीय निषेधपरक अर्थ का उसी प्रकार उपायरूप है जिस प्रकार वाक्यार्थप्रतीति के प्रति पदार्थप्रतीति उपायरूपा होती है।[६]

इस प्रकार आनन्दवर्द्धन ने जिन ध्वनिविरोधी मीमांसकों के मतों को पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत किया है, उसे अभिनवगुप्त ने भाट्ट एवं प्राभाकर मीमांसक का मत बतलाते हुए लोचन में स्पष्ट किया है। अभिनवगुप्त के अनुसार पूर्वपक्षी ने जो विधिपरक प्रथम अर्थ को निषेधपरक द्वितीय अर्थ का उपायरूप कहा है, वह कुमारिल भट्ट के वाक्यार्थ विचार पर अवलम्बित है। कुमारिल के अनुसार पदार्थप्रतीति वाक्यार्थप्रतीति की उपायरूप होती है। जिस प्रकार वह्निसंयुक्त इन्धन का मुख्य फल तो ओदनादि का पाक है तथा अवान्तर फल ज्वलन होता है, उसी प्रकार अर्थबोधन के लिए उच्चरित

शब्दों का पदार्थप्रतिपादनरूप अवान्तर फल रहने पर भी मुख्य फल वाक्यार्थ का बोधन ही है। इसलिए शब्दों से अवगत पदार्थों के द्वारा तात्पर्यरूप से जो अर्थ उठाया जाता है, वही वाक्यार्थ है और वही वाच्य है। प्राभाकर भी दीर्घदीर्घतर अभिधावादी हैं और वाक्यार्थ प्रतीति में पदार्थों को कारण मानते हैं।[७]

इस प्रकार आनन्दवर्द्धन द्वारा व्यञ्जना वृत्ति की स्थापना करने के प्रसङ्ग मे व्यञ्जनाविरोधी जिन मीमांसा मतों को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित किया गया है, उससे तात्पर्यार्थ की जानकारी तो प्राप्त होती है, लेकिन इस तात्पयार्थ के लिए वे तात्पर्यवृत्ति का उल्लेख न कर अभिधावृत्ति से ही उसकी प्रतीति की बात कहते हैं। स्पष्टतः तात्पर्यार्थ प्रतिपादन का यह मत प्राभाकरों का है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आनन्दवर्द्धन तात्पर्यवृत्ति से तात्पर्यार्थ का प्रतिपादन करने वाले मत के सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं करते हैं। आनन्दवर्द्धन द्वारा पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित मत में तात्पर्यार्थ को बतलाने में समर्थ अभिधावृत्ति का खण्डन कर व्यञ्जनावृत्ति की स्थापना करने के प्रसङ्ग में तात्पर्यवृत्तिविषयक कोई चर्चा नहीं है, अतः यहाँ उसपर अनावश्यक विचार अप्रासङ्गिक ही होगा।

निष्कर्षतः आनन्दवर्द्धन ने तात्पर्यवृत्ति पर तो नहीं लेकिन तात्पर्यार्थ पर अवश्य ही विचार-विमर्श किया है, जो कि मीमांसकों के अनुसार वाच्य होता है और वाक्यार्थ की पूर्ण अवगति तक होता है तथा उसकी प्रतीति अभिधावृत्ति से होती है। मीमांसकों ने इस तात्पर्यार्थ में ध्वनिवादियों के व्यङ्ग्यार्थ को भी समाहित कर लिया है। लेकिन आनन्दवर्धन ने तात्पर्यरूप वाच्य अर्थ को व्यङ्ग्य अर्थ से पृथक् एवं तात्पर्यार्थ के पश्चात् व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति को बतलाकर उस व्यङ्ग्य अर्थ के प्रतिपादनार्थ अभिधादिवृत्तियों को असमर्थ सिद्ध करते हुए व्यञ्जनावृत्ति को स्थापित किया है।

३.१.२. अभिनवगुप्तपादाचार्य अभिमत तात्पर्यवृत्ति

आचार्य अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन में मीमांसकों के भाट्ट एवं प्राभाकर अभिमत तात्पर्यार्थ का निरूपण करते हुए तात्पर्यवृत्ति के स्वरूप

पर विचार किया है। इन्होंने मीमांसकों के अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद दोनों ही मतों को पृथक्-पृथक् उपन्यस्त कर मीमांसकों की असीमित तात्पर्यवृत्ति को सीमित कर उसकी सीमा को निर्धारित करते हुए व्यङ्ग्यार्थ प्रतिपादन में उसे असमर्थ बतलाकर व्यञ्जनावृत्ति द्वारा व्यङ्ग्यार्थ का निरूपण किया है। ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत में विधिरूप वाच्यार्थ में निषेधरूप प्रतीयमानार्थ के उदाहरण में प्रस्तुत 'भ्रम धार्मिक.......' इत्यादि[८] श्लोक में अभिनवगुप्त निषेधरूप व्यङ्ग्यार्थ के प्रतिपादन के प्रसङ्ग में अभिहितान्वयवादी एवं अन्विताभिधानवादी मीमांसकों के मतों का एकैकशः खण्डन करते हैं।

सर्वप्रथम अभिहितान्वयवादियों के मत को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि अभिहितान्वयवादी निषेधरूप व्यङ्ग्यार्थ को तात्पर्यार्थ ही मानता है। तात्पर्यार्थ ही वाक्यार्थ होता है। उनका कहना है कि 'भ्रम धार्मिक.....' आदि वाक्य में आये हुए धार्मिक और दृप्त आदि पदों का परस्पर अन्वय नही हो सकता, क्योंकि दृप्त सिंह के रहने पर धार्मिक का भ्रमण कैसे सम्भव हो सकता है। इसलिए विधिरूप मुख्यार्थ तो बाधित हो जाता है। चूँकि वक्ता की विवक्षा भी भ्रमण विधि में नहीं है, अतएव विधिरूप अर्थ तक तो तात्पर्यशक्ति का पर्यवसान नहीं हो पाया, क्योंकि वक्ता का विवक्षित अर्थ अभी भी अपूर्ण ही है। इस प्रकार वक्ता की निषेध में विवक्षा होने के कारण अपर्यवसिता तात्पर्यशक्ति विरोधनिमित्ता विपरीत लक्षणा की सहायता से निषेधरूप वाक्यार्थ की प्रतीति करायेगी। चूँकि लक्षणा और तात्पर्य भी अभिधाश्रित ही होती है, इसलिए वाक्यार्थीभूत निषेधपरक अर्थ भी अभिधामूला ही है, व्यञ्जनामूला नहीं। यह लोक में भी देखा जाता है कि वक्ता के सम्पूर्ण अभिप्राय के शब्दोपात्त न होने पर भी उसके विषय में यही कहा जाता है कि वक्ता ने यह कहा है, न कि यह व्यञ्जना करायी है। इसलिए वाच्य से व्यतिरिक्त अन्य कोई व्यङ्ग्यादि अर्थ की सत्ता नहीं होती है।[९]

इस प्रकार पूर्वपक्षी के स्वमत स्थापन के बाद मीमांसक की तात्पर्यवृत्ति की सीमा का निर्धारण करते हुए तथा उक्त वाक्य में लक्षणा की निरवकाशता

को सिद्ध करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा ये तीन व्यापार मीमांसकों को मान्य है। अभिधा के द्वारा प्रत्येक पद का जातिपरक अर्थ मिलता है। अभिधा सङ्केतित अर्थ को ही बतलाती है और सङ्केत भी सामान्य में ही होता है व्यक्ति में नहीं, क्योंकि व्यक्ति में सङ्केत मानने पर आनन्त्य और व्यभिचार दोष आ जायेंगे। इस प्रकार अभिधा द्वारा सामान्य रूप पदार्थों की उपस्थिति हो जाने पर तात्पर्यशक्ति द्वारा उनका परस्पर अन्वय होकर विशेष रूप वाक्यार्थ मिलता है।[१०] यहाँ पर द्वितीय कक्षा (तात्पर्यकक्षा) में विधिरूप अर्थ ही मिलेगा, क्योंकि विधिरूप अर्थ ही अन्वित अर्थ है। जिस प्रकार 'गङ्गायां घोषः', 'सिंहो माणवकः' इन वाक्यों में अन्वय की वेला में ही बाधा की प्रतीति हो जाती है, उसी प्रकार यहाँ पर 'तुम्हारे भीति का कारण कुत्ता, सिंह के द्वारा मार डाला गया है, अतः तुम्हारा भ्रमण उचित है' इस प्रकार भ्रमण-विधिपरक अन्वय करने में कोई बाधा उपस्थित नही होती है। अतएव यहाँ अन्वित अर्थ की निर्बाध प्रतीति होने से लक्षणा के लिए कोई अवकाश नहीं रह जाता।[११]

मीमांसक यहाँ विपरीत लक्षणा के कारण प्राप्त निषेध रूप अर्थ को तात्पर्यार्थ मानकर तात्पर्यशक्ति और लक्षणा शक्ति को एक ही कक्षा में निविष्ट करना चाहते हैं। इसका खण्डन करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं कि यदि यहाँ पर तुष्यतुदुर्जनन्याय से लक्षणा मान भी ली जाय तथापि उसे द्वितीय कक्षा (तात्पर्य कक्षा) में सङ्क्रान्त कैसे माना जा सकता है? इसका कारण यह है कि लक्षणा का बीज तो मुख्यार्थबाध है और यह बाध प्रतीति दो प्रकार से हो सकती है— पदार्थों के स्वरूपतः विरोध से अथवा उनके परस्पर विरोध से। स्वरूपतः बाधित पदार्थ हैं— शशविषाण, खपुष्प, बन्ध्यासुत इत्यादि। परस्पर विरोध का उदाहरण है, 'गङ्गायां घोषः'। यहाँ 'गङ्गायां' तथा 'घोषः' ये दोनों ही पद पृथक रूप से सर्वथा उपपन्न अर्थ वाले हैं, किन्तु जब दोनों पदार्थों का अन्वय किया जाता है तब तुरन्त बाधा की प्रतीति होने लगती है। 'भ्रम धार्मिक......' इत्यादि वाक्य में तो पदार्थों का स्वरूपतः बाध होता ही नहीं। अब यदि

मीमांसक उनका परस्पर विरोध मानकर लक्षणा को अवसर देना चाहते हैं तो यह विरोध अन्वय की वेला में ही भासित होना चाहिए। बिना अन्वय के विरोध की प्रतीति ही कैसे होगी? चूँकि पदार्थों का अन्वय तात्पर्यशक्ति से होता है, इसलिए तात्पर्यशक्ति द्वितीय कक्षा में अन्वय की प्रतीति कराकर क्षीण हो जाएगी और इस प्रकार लक्षणा तात्पर्यशक्ति के बाद तृतीय कक्षाभागी ही बनेगी। लेकिन चूँकि लक्षणा की निरावकाशता सिद्ध हो चुकी है अतः निषेधरूप अर्थ के लिए अभिधा, तात्पर्य एवं लक्षणा से अतिरिक्त किसी अन्य वृत्ति की कल्पना अवश्य ही करनी पड़ेगी और वही व्यञ्जना वृत्ति है।[१२]

अभिनवगुप्त का कहने का अभिप्राय है कि जब तक अन्वय की प्रतीति नहीं होगी तब तक अन्वय के विरोध की प्रतीति भी कैसे होगी। यहाँ पूर्वपक्षी मीमांसक एक शङ्का करते हैं कि यदि ऐसा माना जाय तो 'अङ्गुल्यग्रे करिवरशतम्' इस वाक्य में भी अन्वय की प्रतीति माननी पड़ेगी। इसका उत्तर देते हुए लोचनकार कहते हैं कि इस वाक्य में भी अन्वय की प्रतिपत्ति तो होती है किन्तु प्रमाणान्तर से वह अन्वय बाधित हो जाता है, इसलिए उसकी उपपत्ति नहीं होती। अन्वय की प्रतिपत्ति उसी स्थल में नहीं होती जहाँ पर पद निराकाङ्क्ष रहते हैं। जैसे दश दाडिमानि, षडपूपाः आदि। इसलिए सभी साकाङ्क्ष पदयुक्त वाक्यों में अन्वय की प्रतिपत्ति कराकर तात्पर्यशक्ति क्षीण हो जाएगी और अन्वय की प्रतीति होने के बाद यदि वह अन्वय बाधित प्रतीत हो तो फिर तृतीय कक्षाभागी लक्षणा की प्रसक्ति होती है और उसके द्वारा अन्वयानुपपत्ति का निरास किया जाता है।[१३] इस सिद्धान्त के आधार पर लोचनकार का कहना है कि 'भ्रम धार्मिक ....' इत्यादि वाक्य में तात्पर्यशक्ति द्वारा विधिरूप अर्थ ही निकलेगा और इस अर्थ की अनुपपत्ति न होने से लक्षणा को अवसर ही न मिलेगा। इसलिए यहाँ पूर्वपक्षियों द्वारा लक्षणा शक्ति व्यापार को केवल अभ्युपगमरूप (तुष्यतुदुर्जनन्याय) से ही माना गया था। इस प्रकार अभिनवगुप्त 'भ्रम धार्मिक ....' इत्यादि वाक्य में वाच्य अर्थ से अतिरिक्त जो निषेधपरक अर्थ की प्रतीति होती है, उसे अभिधा तात्पर्य एवं लक्षणा से गम्य न

बतलाकर एक चतुर्थ व्यापार व्यञ्जना की सिद्धि करते हैं जो निषेधपरक व्यङ्ग्यार्थ का बोध कराती है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन द्वारा अभिनवगुप्त के शब्दवृत्तियों के सम्बन्ध में यह विचार दृष्टिगोचर होता है कि वे चार शब्दवृत्तियों की स्वीकृति देते हैं— अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा एवं व्यञ्जना। इनमें अभिधा प्रथमकक्षानिवेशी, तात्पर्य द्वितीयकक्षानिवेशी, लक्षणा तृतीयकक्षा-निवेशी तथा व्यञ्जना चतुर्थकक्षानिवेशी होती है। इनमें अभिधा वाक्यगत पदों के सङ्केतित अर्थ का बोध कराती है, तात्पर्य पदार्थों में अन्वय करने का कार्य करती है, लक्षणा यदि तात्पर्यवृत्ति से अन्वित अर्थों में बाधा उत्पन्न होता है तो वहाँ उपस्थित होकर वाक्यार्थ बोध करने में सहायता प्रदान करती है। जब ये तीनों ही वृत्तियाँ अपना-अपना कार्य सम्पन्न कर विरत हो जाती हैं तो वाक्यों से जिस व्यङ्ग्यार्थ का प्रतिपादन होता है उसे व्यञ्जना नामक तुरीया वृत्ति सम्पन्न करती है।इन चारों ही वृत्तियों को परिभाषित करते हुए अभिनवगुप्त कहते हैं — समय अर्थात् सङ्केत की अपेक्षा रखने वाले, वाच्य अर्थ के बोधन की शक्ति अभिधा शक्ति कहलाती है।[१४] उसकी अन्यथानुपपत्ति सहाय वाली अर्थावबोधन की शक्ति तात्पर्य शक्ति है।[१५] लक्षणा शक्ति मुख्यार्थ बाध आदि इन सहकारियों की अपेक्षा से अर्थ के प्रतिभासन की शक्ति है।[१६] इन तीनों शक्तियों से उत्पन्न अर्थबोध के मूल से भी उन अभिधेय आदि अर्थों के प्रतिभास से पवित्रित प्रतिपत्ता की प्रतिभा की सहायता से अर्थ के द्योतन की शक्ति ध्वनन व्यापार है।[१७]

इस प्रकार अभिनवगुप्त प्रतिपादित तात्पर्यवृत्ति के स्वरूप को देखने से यह स्पष्ट है कि तात्पर्यशक्ति के अभाव में वाक्यार्थबोध अनुपपन्न हो जाएगा। तात्पर्यवृत्ति ही पदार्थों में अन्वय कराकर वाक्यार्थबोध को सम्भव बनाती है। आचार्य ने तात्पर्यवृत्ति की जो परिभाषा दी है, उसमें उन्होंने तात्पर्यवृत्ति को व्यतिरेक प्रकार से वाक्यार्थबोध में सिद्ध किया है। आचार्य के अनुसार अन्वयरूप अर्थ की अन्यथा अर्थात् तात्पर्य के अभाव में जो अनुपपत्ति है, उसकी सहायता वाली यह वृत्ति है अर्थात् तात्पर्यवृत्ति के

अभाव में वाक्यार्थबोध की अनुपपत्ति होगी इसलिए इसे स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार वाक्यार्थबोधाभाव ही तात्पर्यवृत्ति की सिद्धि में सहायक है।

निष्कर्षतः अभिनवगुप्त द्वारा तात्पर्यवृत्ति विषयक उपर्युक्त विवेचन से यह तथ्य निकलता है कि अभिहितान्वयवादी मीमांसकों ने जहाँ तात्पर्यवृत्ति के क्षेत्र को वक्ता के अभिप्राय के अवसान पर्यन्त बताकर उसे असीमित बतलाया था, वहीं अभिनवगुप्त उसे वाक्यार्थबोध में पदार्थों के अन्वय प्रतिपादक मात्र के रूप में सीमित कर दिया है। उनके अनुसार यह वाक्यार्थ भी द्वितीयकक्षानिवेशी वृत्ति है। यद्यपि आचार्य ने इस वृत्ति के क्षेत्र को सीमित अवश्य कर दिया लेकिन वाक्यार्थ बोध में इसकी उपस्थिति को अनिवार्य भी बतलाया है। उनके अनुसार यदि यह वृत्ति न रहे तो वाक्यार्थ अनुपपन्न ही रहेगा। इस प्रकार मीमांसकों की तात्पर्यवृत्ति एवं अभिनवगुप्त अभिमत तात्पर्यवृत्ति में स्पष्टतः भेद प्रतीत होता है।

इसी प्रकार तात्पर्यार्थ में भी भेद को देखा सकता है। जहाँ मीमांसक वाक्य से प्रतीत होने वाले सभी अर्थों को तात्पर्यार्थ मानते हैं, वहीं अभिनवगुप्त के अनुसार अभिधावृत्ति से पदों के सङ्केतित अर्थ ज्ञात हो जाने के पश्चात् पदार्थों का तात्पर्यवृत्ति से अन्वय कराकर जो अर्थ उपस्थित किया जाता है, वही तात्पर्यार्थ कहलाता है। यदि अन्वय में बाधा उपस्थित होती है तो वहाँ लक्षणावृत्ति के माध्यम से जिस अर्थ का बोध कराया जाता है, वह लक्ष्यार्थ जबकि तात्पर्यार्थ के बाद व्यञ्जनावृत्ति के माध्यम से जिस अतिरिक्त अर्थ का बोध कराया जाता है वह व्यङ्ग्यार्थ कहलाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ मीमांसकों के अनुसार अभिधेयार्थ के अलावा जितने भी अर्थ वाक्य से प्रतीत होते हैं, वे तात्पर्यार्थ ही कहलाते हैं जबकि अभिनवगुप्त के अनुसार तात्पर्यार्थ वाक्यस्थ पदार्थों से अन्वित वाक्यार्थ मात्र है।

३.१.३. भोजदेव अभिमत तात्पर्यवृत्ति

भोजदेव ने शब्दशक्तियों के विषय में अपने शृङ्गारप्रकाश में एक

सर्वथा नूतन विचार प्रस्तुत किया है। काव्य का विश्लेषण करते समय भोज ने काव्य के उपादान शब्द, अर्थ और शब्दार्थ साहित्य के क्रमशः बारह-बारह भेद माने हैं जिनको निम्न प्रकार से देखा जा सकता है—

१. **शब्द के भेद :** प्रकृति, प्रत्यय, उपस्कार, उपपद, प्रातिपदिक, विभक्ति, उपसर्जन, समास, पद, वाक्य, प्रकरण, प्रबन्ध।[१८]

२. **अर्थ के भेद :** क्रिया, काल, कारक, पुरुष, उपाधि, प्रधान, उपस्कारार्थ, प्रातिपदिकार्थ, विभक्त्यर्थ, वृत्यर्थ, पदार्थ, वाक्यार्थ।[१९]

३. **शब्दार्थ भेद :** अभिधा, विवक्षा, तात्पर्य, प्रविभाग, व्यपेक्षा, सामर्थ्य, अन्वय, एकार्थीभाव, दोषहान, गुणादान, अलंकारयोग, रसवियोग।

भोज ने शब्द एवं अर्थ के इन बारह सम्बन्धों को ही साहित्य कहा है।[२०] भोज ने शब्दार्थ सम्बन्ध के लिए जो बारह भेद बताये हैं, उन्हें निम्न तीन कोटियों में बाँटा जा सकता है—

१. **केवल शक्ति :** अभिधा, विवक्षा, तात्पर्य, प्रविभाग।

२. **सापेक्ष शक्ति :** व्यपेक्षा, सामर्थ्य, अन्वय, एकार्थीभाव।

३. **अन्य भेद :** दोषहान, गुणादान, अलङ्कारयोग, रसावियोग।

इन तीन कोटियों में से भोज ने प्रथम दो कोटियों को ही शक्ति नाम से अभिहित किया है। इनमें भी प्रथम वर्ग की शक्तियाँ केवल शक्तियाँ हैं, जिसे भोज ने शब्द सम्बन्धी शक्ति कहा है तथा दूसरी कोटि सापेक्ष शक्तियों की है जिसे भोज ने शब्दार्थ सम्बन्धी शक्ति कहा है।[२१]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से हम देखते हैं कि भोज के मत में आठ शक्तियाँ सिद्ध होती हैं। यहाँ उल्लेखनीय है कि भोज अभिमत शक्तियों की तालिका में कहीं भी लक्षणा तथा व्यञ्जना का सङ्केत नहीं है। इसका कारण यह है कि वे लक्षणा को अभिधा में तथा व्यञ्जना को तात्पर्य में अन्तर्भावित मानते हैं। चूँकि इस शोधग्रन्थ का विषय तात्पर्यवृत्ति विषयक विचार है अतः भोज के अन्य शक्तियों को छोड़कर उनकी तात्पर्य शक्ति पर ही विचार किया जा रहा है।

भोज ने तात्पर्य को परिभाषित करते हुए कहा है कि वक्ता शब्दों द्वारा जिस अर्थ की अभिव्यक्ति करे उसे तात्पर्य कहते हैं। यह तात्पर्य वाक्यों द्वारा ही अभिव्यक्त होता है, क्योंकि पदों के द्वारा अभिप्रायरूप अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती। इस प्रकार भोज ने वाक्य से प्रतिपादित तात्पर्यशक्ति के तीन भेद माने हैं— अभिधीयमान, प्रतीयमान एवं ध्वनिरूप।[२२]

१. **अभिधीयमान तात्पर्य :** अभिधीयमान तात्पर्य वहाँ होता है, जहाँ अभिधा के पदार्थ का ज्ञान कराकर क्षीण हो जाने पर आकाङ्क्षा, सन्निधि, योग्यता आदि के द्वारा वाक्यार्थ का अभिधान होता है।[२३]

२. **प्रतीयमान तात्पर्य :** जहाँ वाक्यार्थ के बाद ठीक बैठाता हुआ अथवा असंगत प्रतीत होता हुआ अर्थ प्रकरणादि के जिस अर्थ की प्रतीति कराता है, वह प्रतीयमान तात्पर्य कहलाता है। अर्थात् वाक्यार्थ की अवगति के अनन्तर वाक्यार्थ में उपपद्यमान अथवा अनुपपद्यमान अर्थ प्रकरणादि के द्वारा जिस अर्थ का बोध कराये उसे प्रतीयमान तात्पर्य कहते हैं। प्रतीयमान तात्पर्य में वाक्यार्थबोध के पश्चात् प्रतीत होने वाले अर्थ का कथन किया जाता है। उदाहरणार्थ – आलङ्कारिकों का प्रसिद्ध वाक्य 'विषं भुङ्क्ष्व मा चास्य गृहे भुङ्क्था:' में 'जहर खा लेना अच्छा है, इसके घर खाना अच्छा नहीं' यह प्रतीति वाक्यार्थ के अनुपपद्यमान होने पर प्रकरणादि के बल से होती है।[२४] भोज ने प्रतीयमान तात्पर्य के बारह भेदों का वर्णन किया है— विधि में निषेध, निषेध में विधि, विधि में विध्यन्तर, निषेध में निषेधान्तर आदि।

३. **ध्वनिरूप तात्पर्य :** ध्वनिरूप तात्पर्य के अन्तर्गत वाक्यार्थ अपने अभिधेयार्थ को गुणीभूत कर उसे अनुवाद रूप से अथवा प्रतिशब्द रूप से व्यञ्जित करता है। भोज ने ध्वनिरूप तात्पर्य

के दो भेद किये हैं— शब्दध्वनि तथा अर्थध्वनि। पुनः दोनों के अनुनादध्वनि एवं प्रतिशब्दध्वनि के नाम से दो-दो भेदों का निरूपण किया है।

अभिधेय अर्थ से अपृथक् या अनुस्यूत अर्थान्तर की प्रतीति होने में अनुनादध्वनि होती है। जैसे- एक घण्टा के बजने पर उसका अनुनाद होता है, वैसे ही इसमें अभिधीयमान वाक्यार्थ से अनुस्यूत होकर अन्यार्थ का बोध होता है। भोज ने इसका उदाहरण निम्न पद्य में दिया है—

शिखरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः।
तरुणि येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः।।

यहाँ इस पद्य का अभिधीयमान तात्पर्य यह है कि नायिका का अधर बिम्बफल के समान अरुण है तथा उसके समान बिम्ब को चखने वाला तोता भी सौभाग्यशाली है। इससे वक्ता का नायिकागत अनुराग ध्वनित होता है। यह नायिकागत अभिधीयमान तात्पर्य से अविच्छिन्न रूप में ही प्रतीत होता है, अतः यहाँ अनुनादध्वनि है।

प्रतिशब्दध्वनि में अभिधीयमान वाक्यार्थ से अन्य अर्थ का सर्वथा पृथक् रूप से बोध होता है। जैसे — गुफा आदि का प्रतिशब्द शब्द से सर्वथा भिन्न रूप में प्रतीत होता है, अतः वहाँ प्रतिशब्दध्वनि होती है। प्रतिशब्दध्वनि के उदाहरण में भोज ने 'कस्स ण वा होई रोसो......'[२५] इत्यादि गाथा को उद्धृत किया है। इस गाथा में अभिधीयमान तात्पर्य सखी का उपालम्भ है, किन्तु यह नायिका के पति की ईर्ष्या को शान्त करने के लिए यह प्रतीति कराता है कि इसके अधर का खण्डन भ्रमर ने किया है, उपपति ने नहीं। इससे सखी की चतुरता ध्वनित होती है। यह तात्पर्य अन्य व्यक्ति के हृदय में ही ध्वनित होता है, अतः यहाँ प्रतिशब्दध्वनि तात्पर्य है। इस प्रकार भोज के तात्पर्यशक्ति को निम्न तालिका से समझा जा सकता है—

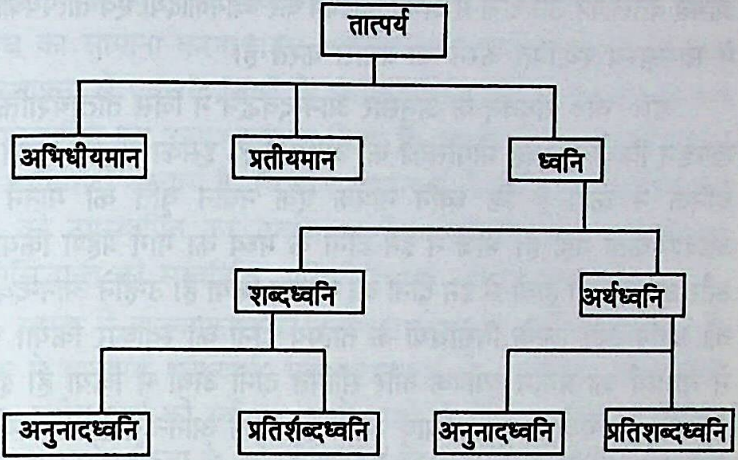

उपर्युक्त विवेचन के माध्यम से देखा जा सकता है कि भोजदेव ध्वनि का अन्तर्भाव तात्पर्य में कर लेते हैं। उनकी दृष्टि में ध्वनि तथा तात्पर्य में कोई भेद नहीं है। वे एक ही वस्तु के दो अभिप्रायमात्र हैं। सामान्य वचन में जिसे तात्पर्य कहा जाता है, वही काव्य में ध्वनि नाम से व्यवहृत होता है। तात्पर्य वाक् का सौभाग्य है और ध्वनि वाक् का लावण्य।[२६] भोज कहते हैं कि सामान्य बातचीत और लेख अवक्र होता है अर्थात् असुन्दर होता है, जबकि काव्यवचन वक्र अर्थात् सुन्दर होता है। जिस वाक्य से वक्ता के सम्पूर्ण अभिप्राय की अभिव्यक्ति होती है, वह वक्ता का अर्थगत धर्म तात्पर्य जबकि शब्दगत धर्म ध्वनि कहलाता है। तात्पर्य अन्तरङ्ग है, वह वाक् का सौभाग्य है और ध्वनि बाह्य तथा वाक् का लावण्य है। जिस प्रकार ज्योतिर्विज्ञान की दृष्टि से चैत्र और वैशाख कहे जाने वाले महीने दूसरी दृष्टि से मधु और माधव कहे जाते हैं, उसी प्रकार उक्ति के सारार्थ को हम तात्पर्य या ध्वनि कह सकते हैं।[२७]

इस प्रकार हम देखते हैं कि भोजदेव ने तात्पर्य का क्षेत्र विस्तृत बतलाते हुए उसमें ध्वनि को भी सामाहित कर लिया है। लेकिन भोज आनन्दवर्द्धन के ध्वनि का खण्डन नहीं करते बल्कि तात्पर्य को ध्वनि से

अभिन्न बतलाकर उन दोनों में अभेद स्थापित कर ध्वनिवादियों एवं तात्पर्यवादियों में सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयास करते हैं।

डॉ० वी० राघवन् के अनुसार आनन्दवर्द्धन ने जिस तात्पर्यशक्ति का खण्डन किया है, वह मीमांसकों को अभिमत है। इसका समर्थन करते हुए धनिक ने कहा है कि ध्वनि नामक एक नवीन वृत्ति को मानने की आवश्यकता नहीं है। भोज ने इन दोनों के मध्य का मार्ग ग्रहण किया है; और अपने दोनों हाथों से इन दोनों का स्वागत किया है। उन्होंने आनन्दवर्द्धन की ध्वनि और उनके विरोधियों के तात्पर्य दोनों को स्वीकार किया। भोज ने तात्पर्य का प्रयोग व्यापक और सीमित दोनों अर्थों में किया है। इसके अन्तर्गत अभिधीयमान वाक्यार्थ आता है, जिसे आनन्दवर्द्धन तात्पर्य का वास्तविक अर्थ मानने पर जोर देते हैं किन्तु भोज ध्वनि को भी इसके अन्तर्गत समाविष्ट करते हैं।[२८]

३.१.४. आचार्य मम्मट एवं तात्पर्यविषक उनका मन्तव्य

मीमांसा दर्शन में वाक्य से प्रतीत होने वाले सभी अर्थों को वाच्यार्थ के रूप में ही स्वीकार किया गया है। मीमांसा दर्शन के दो महत्त्वपूर्ण सम्प्रदायों-भाट्ट एवं प्राभाकर का वाक्यार्थ सम्बन्धी अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद में भी यही स्थापित किया गया है कि वाक्य से जो वाक्यार्थज्ञान होता है, वह वाच्यार्थ कहलाता है। इन दोनों सिद्धान्तों में वाक्यार्थबोध की प्रक्रिया थोड़ी भिन्न अवश्य है। जहाँ अभिहितान्वयवादी मीमांसक वाक्यार्थबोध के लिए पहले पदों से पदार्थों का बोध एवं पदार्थों में अन्वय को आवश्यक बतलाते हुए अभिधा, लक्षणा या अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्यवृत्ति की कल्पना कर वाक्यार्थ/तात्पर्यार्थ का प्रतिपादन करते हैं, वही अन्विताभिधानवादी अन्वित पदार्थों से युक्त वाक्यों से ही अभिधावृत्ति के माध्यम से वाक्यार्थ/तात्पर्यार्थ का प्रतिपादन करते हैं, इन दोनों ही सम्प्रदायों में वाक्य से प्राप्त सभी प्रकार के अर्थों को तात्पर्यार्थ में ही समाहित माना गया है। इस प्रकार ध्वनिवादी आचार्य जो कि व्यङ्ग्यार्थ को तात्पर्यार्थ से पृथक्

मानकर व्यञ्जनावृत्ति की स्थापना करते हैं, उन्हें मीमांसकों के प्रबल विरोध का सामाना करना पड़ा। ध्वनिवादी आचार्यों ने अपने सिद्धान्त की स्थापना से पूर्व मीमांसकों के ध्वनिविरोधी मतों को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित कर उनका खण्डन किया है। इस कड़ी में आचार्य मम्मट ऐसे ध्वनिवादी आचार्य हैं, जिन्होंने मीमांसकों के एक-एक ध्वनिविरोधी मतों को उपस्थापित कर उनका समुचित खण्डन प्रस्तुत करते हुए ध्वनिसिद्धान्त को सम्वर्द्धित, परिवर्द्धित एवं परिपुष्ट किया है।

मम्मट ने काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में अर्थों के विवेचन के प्रसङ्ग में वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, एवं व्यङ्ग्यार्थ के अतिरिक्त 'तात्पर्यार्थ' नामक तुरीय अर्थ को स्वीकार करने वालों के लिए कारिका में केचित् शब्द का प्रयोग किया है, जो टीकाकारों के अनुसार मीमांसकों के लिए किया गया है। अर्थात् तात्पर्यार्थ की स्वीकृत्ति मीमांसकों में है। मम्मट ने द्वितीय उल्लास की जिस कारिका में तात्पर्यार्थ को उद्धृत किया है उसके स्वोपज्ञवृत्ति में मीमांसकों के अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद का भी संक्षिप्त उल्लेख कर पञ्चम उल्लास में व्यञ्जनावृत्ति की स्थापना के प्रसङ्ग में मीमांसकों के तात्पर्यार्थ एवं तत्सम्बन्धी अनेक मतों का उल्लेख करते हुए उनका खण्डन किया है। चूँकि जिन मीमांसकों के तात्पर्यविषयक पक्ष का उल्लेख मम्मट ने किया है, उनके ग्रन्थ सम्प्रति अनुपलब्ध हैं, अतः उनके तात्पर्यविषयक मत को समझने के लिए मम्मट का यह विवेचन अत्यन्त उपयोगी है। मम्मट के काव्यप्रकाश में तात्पर्यविषयक जो उद्धरण प्राप्त होते हैं, उनका दिग्दर्शन निम्न प्रसङ्गों में किया जा सकता है—

अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद

आचार्य मम्मट ने मीमांसकों द्वारा व्यङ्ग्यार्थ मानने वाले मत का खण्डन करने के लिए उनके वाक्यार्थ सम्बन्धी दो प्रमुख सिद्धांतों अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए मीमांसकों द्वारा स्वीकृत तात्पर्यार्थ को व्यङ्ग्यार्थ से भिन्न बताते हुए उस व्यङ्ग्यार्थ का बोध कराने में अभिधा, लक्षणा या तात्पर्यवृत्ति को

असमर्थ बतलाकर व्यञ्जनावृत्ति को स्थापित किया है। काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में मम्मट ने शब्द के तीन प्रकार बतलाये हैं— वाचक, लक्षक एवं व्यञ्जक।[२९] इन तीनों प्रकार के शब्दों से क्रमशः वाच्य, लक्ष्य एवं व्यङ्ग्य अर्थ का बोध होता है।[३०] मम्मट ने इन तीनों अर्थों के अलावा तात्पर्य नामक चौथे अर्थ की भी चर्चा की है जिसे उन्होंने किसी अन्य लोगों द्वारा स्वीकृत बतलाया है।[३१] इस अन्य लोगों का संकेत काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने मीमांसकों के रूप में किया है। मीमांसकों में तात्पर्यार्थ के प्रतिपादनार्थ दो सिद्धान्त प्रसिद्ध हैं जिन्हें अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद के नाम से जाना जाता है। इन सिद्धांतों को स्वोपज्ञवृत्ति में बतलाते हुए मम्मट कहते हैं कि अभिहितान्वयवादियों के अनुसार पदार्थों का आकाङ्क्षा, योग्यता तथा सन्निधि के बल से परस्पर सम्बन्ध होने पर पदों से प्रतीत होने वाला पदार्थ न होने पर भी विशेष प्रकार का तात्पर्यरूप वाक्यार्थ प्रतीत होता है। अन्विताभिधानवादियों के अनुसार वाच्य ही वाक्यार्थ कहलाता है।[३२] इन दोनों ही मतों को स्पष्ट करते हुए बालबोधिनीं टीकाकार कहते हैं कि अभिधावृत्ति से अभिहित पदार्थों द्वारा अपने-अपने वृत्ति के द्वारा परस्पर अन्वय कराकर वाक्यार्थ ज्ञान कराया जाता है, ऐसा भाट्ट मतानुयायी अभिहितान्वयवादियों का मत है।[३३] पद परस्पर अन्वित होकर ही तात्पर्यरूप विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, ऐसा अन्विताभिधानवादियों का मत है।[३४]

इस प्रकार द्वितीय उल्लास में मम्मट ने मीमांसकों के तात्पर्यार्थ को एवं उनके दोनों सिद्धांतों का संक्षेप में उल्लेख किया है। काव्यप्रकाश के पञ्चम उल्लास में मम्मट ने व्यञ्जनावृत्ति की स्थापना के प्रसंग में अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद दोनों ही मतों में मीमांसकों द्वारा स्वीकृत वृत्तियों को व्यङ्ग्यार्थ को बतलाने में असमर्थ कहकर व्यञ्जना की अपरिहार्यता को सिद्ध किया है। मम्मट कहते हैं कि मीमांसकों के अनुसार व्यक्ति विशेष में सङ्केत तो किया नहीं जा सकता, इसलिए जाति रूप पदार्थों में सङ्केत होने से अभिधावृत्ति द्वारा केवल जातिरूप पदार्थों की उपस्थिति होती है, लेकिन वही वाक्यार्थ के लिए पर्याप्त

नहीं है बल्कि उन जाति रूप पदार्थों का आकाङ्क्षा, योग्यता एवं सन्निधि के कारण परस्पर संसर्ग रूप विशेष अर्थ उपस्थित होता है, जो वाक्यार्थ कहलाता है। इस प्रकार अभिहितान्वयवाद के अनुसार आभिधावृत्ति तो स्वयं वाक्यार्थ को उपपन्न करने में ही असमर्थ है तो पुनः वाक्यार्थ के पश्चात् प्रतीयमान अर्थ अभिधेय अथवा वाच्यार्थ कैसे हो सकता है।[३५] इसलिए अभिहितान्वयवादियों को व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के लिए अभिधा से पृथक एक व्यापार मानना पड़ेगा और वही व्यञ्जना व्यापार है।

अभिहितान्वयवाद में व्यङ्ग्यार्थ के प्रतिपादनार्थ व्यञ्जनावृत्ति की अपरिहार्यता को सिद्ध कर अन्विताभिधानवाद में भी इसकी अपरिहार्यता का उपक्रम करते हुए मम्मट कहते हैं कि अन्विताभिधानवाद में भले ही अन्वित पदार्थों का बोध होता है और वे अन्वित पदार्थ ही वाक्यार्थ कहलाते हैं लेकिन अभिधावृत्ति से जिस अन्वित पदार्थ का बोध होता है वह तो अन्वित विशेष के असङ्केतित रहने से उस अन्वित विशेष अर्थ का बोध अभिधा से सम्भव ही नहीं है। अतः वह तो अवाच्य ही कहलाएगा। इसलिए उस अवाच्य अर्थ की प्रतीति व्यञ्जनावृत्ति से ही सम्भव है। मम्मट के इस अभिप्राय को समझने के लिए पहले उनके द्वारा प्रतिपादित अन्विताभिधानवाद को समझना आवश्यक है। मम्मट के अनुसार अन्विताभिधान में पदार्थों का बोध अन्वित रूप से ही होता है क्योंकि सङ्केत उसी में होता है। यहाँ पर सङ्केतग्रह किस प्रकार होता है, उसे ही पहले बताते हुए मम्मट कहते हैं कि एक बालक का जो सङ्केत ज्ञान होता है उसमें तीन प्रमाणों की सहभागिता होती है। सर्वप्रथम बालक उत्तमवृद्ध द्वारा मध्यमवृद्ध के प्रति कहे गये शब्दों को सुनता है एवं मध्यमवृद्ध द्वारा की जाने वाली क्रिया को देखता है। पुनः मध्यमवृद्ध की चेष्टाओं से यह अनुमान करता है कि मध्यमवृद्ध ने उत्तमवृद्ध द्वारा कहे गये वाक्य के अर्थ को समझ लिया है। इसके पश्चात् वह बालक अन्यथानुपपत्ति रूप अर्थापत्ति से उत्तमवृद्ध द्वारा कहे गये वाक्य एवं मध्यमवृद्ध द्वारा समझे गये अर्थ में वाचक-वाच्य सम्बन्ध को जानता है। अर्थात् यदि उत्तमवृद्ध द्वारा प्रयोग किये गये वाक्य एवं मध्यमवृद्ध द्वारा

समझे गये उसके अर्थ में वाचक-वाच्य रूप सम्बन्ध नहीं होता तो वह उस वाक्य के अनुसार क्रिया कैसे करता? वाचक-वाच्य सम्बन्ध है, इस प्रकार की अर्थापत्ति से वह वाचक-वाच्य रूप दो प्रकार की द्वयात्मिका शक्ति को जानता है। इस प्रकार वह बालक प्रत्यक्ष, अनुमान एवं अर्थापत्ति इन तीन प्रमाणों द्वारा लोक में शब्दों एवं उनके सङ्केतित अर्थ को समझता है।[३६] इस प्रकार मम्मट इसे स्वोपज्ञवृत्ति में उदाहरण द्वारा और स्पष्ट रूप से समझाकर यह सिद्ध कर देते हैं कि अन्वय-व्यतिरेक से प्रवृत्ति एवं निवृत्ति कराने वाला वाक्य ही प्रयोग के योग्य होता है। इसलिए वाक्य में स्थित अन्वित पदों का ही अन्वित पदार्थों के साथ सङ्केत ग्रहीत होता है। अतः परस्परान्वित पदार्थ ही वाक्यार्थ होता है, पहले से अनन्वित पदार्थों का बाद में होने वाला अन्वय वाक्यार्थ नहीं होता, ऐसा अन्विताभिधानवादियों का मत है।[३७] अन्विताभिधानवादियों के वाक्यार्थबोध में एक शङ्का उत्पन्न होती है कि वे अन्वित पदार्थों में ही सङ्केतग्रह स्वीकार करते हैं, लेकिन वह सङ्केतग्रह अन्वित सामान्य में होता है या अन्वित विशेष में? इसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि चूँकि एक शब्द अनेक वाक्यों में प्रयुक्त होता है यदि शब्द का अन्वय व्यक्ति विशेष में स्वीकार कर एक अर्थ के साथ अन्वित में सङ्केतग्रह मानें तो अन्य वाक्यों में प्रयुक्त होने पर इस शब्द से अर्थप्रतीति न हो सकेगी। अतः विशेष अर्थ के साथ अन्वित में सङ्केतग्रह नहीं माना जा सकता, सामान्य में अन्य के साथ अन्वित अर्थ में ही सङ्केतग्रह मानना पड़ेगा। इस प्रकार अन्विताभिधानवाद के अनुसार सामान्य से अन्वित पदार्थ ही वाक्यार्थ के रूप में उपस्थित होगा। परन्तु वाक्यार्थ तो विशेष अर्थों का परस्पर सम्बन्ध रूप होता है, सामान्य अर्थों का परस्पर सम्बन्ध रूप नहीं। इसका समाधान मम्मट के शब्दों में अन्विताभिधानवादी इस प्रकार करते हैं कि यद्यपि सङ्केतग्रह सामान्यान्वित अर्थ में ही होता है लेकिन **'निर्विशेषं न सामान्यं'** इस न्याय के अनुसार वह सङ्केतग्रह सामान्य से अवच्छादित विशेष अर्थ में ही मान लिया जाता है।[३८]

यहाँ मम्मट कहते हैं कि भले ही अन्विताभिधानवादी समान्य से विशेष का अध्याहार करके सामान्यान्वित विशेष में संकेतग्रह स्वीकार कर 'गामानय' इत्यादि स्थलों में आनयन क्रिया से कर्मत्वादि रूप सामान्य-विशेष अर्थ का बोध करा ले किन्तु वाक्यार्थ के अन्तर्गत 'गो' आदि व्यक्ति विशेष के साथ सम्बद्ध आनयन रूप अतिविशेष अर्थ तो असङ्केतित रहने से वाच्यार्थ न होने पर भी पदार्थ रूप में प्रतीत होता है। इस प्रकार अन्विताभिधान में जब अतिविशिष्ट रूप वाक्यार्थ का ज्ञान कराने में ही अभिधा असमर्थ है तो उस अतिविशिष्ट वाक्यार्थ से भिन्न जो व्यङ्ग्यार्थ है उसका प्रतिपादन अभिधा कैसे कर पाएगी?[३९]

इस प्रकार मम्मट अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद दोनों ही मातों में वाक्यार्थ को वाच्यार्थ से भिन्न ही सिद्ध किया है। उनके अनुसार अभिहितान्वयवाद में अनन्वित अर्थ वाच्य होता है जबकि अन्विताभिधानवाद में सामान्यरूप से अन्वित अर्थ वाच्यार्थ होता है। इस प्रकार दोनों ही सिद्धांतों में वाच्यार्थ से भिन्न ही वाक्य का अर्थ होता है। चूँकि अभिधावृत्ति से वाच्यार्थ का बोध होता है और वाच्यार्थ वाक्यार्थ नहीं होता। अतः जब अभिधा से वाक्यार्थ का ही बोध नहीं हो पाता है तो वाक्यार्थ से भिन्न व्यङ्ग्यार्थ का प्रतिपादन वह कैसे करायेगी। इसलिए दोनों ही सिद्धांतों में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के लिए व्यञ्जना का मानना अपरिहार्य है। मम्मट ने मीमांसक भट्टलोल्लट का तात्पर्य विषयक सिद्धांत भी प्रस्तुत किया है। पहले आचार्य ने भट्ट लोल्लट अभिमत तात्पर्यार्थ को बतलाकर उसका खण्डन करते हुए मीमांसकों के वास्तविक तात्पर्यार्थ का प्रतिपादन किया है।

भट्ट लोल्लट का तात्पर्यार्थ एवं मम्मट द्वारा उसका खण्डन कर मीमांसकों के वास्तविक तात्पर्यार्थ का प्रतिपादन

भट्ट लोल्लट के अनुसार वे सभी अर्थ तात्पर्यार्थ के अन्तर्गत ही आते हैं जो शब्द से प्रतीत होते हैं। इस तात्पर्यार्थ का प्रतिपादन लोल्लट के

अनुसार अभिधावृत्ति से ही होता है। वे कहते हैं कि यह अभिधा शब्द से प्रतीत होने वाले सभी अर्थों का बोध कराने में उसी प्रकार समर्थ है, जिस प्रकार एक ही बार छोड़ा हुआ बाण पहले शत्रु के कवच का भेदन करता है, फिर उसके वक्षस्थल का विदारण करता है और फिर उसके प्राणों का हरण करता है।[४०] अपने मत के प्रमाणस्वरूप भट्ट लोल्लट शास्त्र वचन उद्धृत करते हैं— **"यत्परः शब्दः स शब्दार्थः"** अर्थात् जिस अर्थ के प्रति शब्द का प्रयोग किया जाता है, वहीं उस शब्द का शब्दार्थ होता है। भट्ट लोल्लट का अभिप्राय यह है कि जिसे व्यङ्ग्यार्थ कहा जाता है, यदि उस अर्थ की प्रतीति के लिए शब्द का प्रयोग किया गया है तो वही शब्द का शब्दार्थ कहलाएगा। इसी प्रकार जहाँ तथाकथित लक्ष्यार्थ कहे जाने वाले अर्थ की कामना से शब्द का प्रयोग हुआ हो वहाँ वह अर्थ ही वाच्यार्थ होगा। अतः लक्ष्यार्थ, व्यङ्ग्यार्थ आदि कहने की आवश्यकता नहीं है; सभी अर्थ वाच्यार्थ ही होते हैं। शब्द अर्थनिष्ठ होता है और जिस अर्थ के प्रति उसकी निष्ठा होती है वही अर्थ उस शब्द का वाच्यार्थ होता है। इस प्रकार भट्ट लोल्लट का यह मत वक्ता के तात्पर्य की परिणति तक सभी अर्थों को वाच्यार्थ के रूप में ही प्रतिपादित करता है।

आचार्य मम्मट ने भट्ट लोल्लट की इस स्थापना का खण्डन किया है। मम्मट के अनुसार अपने सिद्धान्त की पुष्टि हेतु लोल्लट ने जिस यत्परः शब्द...... आदि युक्ति का सहारा लिया है, वास्तव में वे उस युक्ति के अर्थ को ही नहीं समझ पाये हैं। अपने ही शास्त्र की इस तात्पर्यवाचो युक्ति का अर्थ न समझने वाले भट्ट लोल्लट को अतात्पर्यज्ञ बतलाकर मम्मट ने उन्हें 'देवानांप्रिय' उपाधि से सम्बोधित किया है जो लोक में मूर्ख अर्थ में प्रयुक्त होता है।[४१]

मम्मट के अनुसार इस तात्पर्यवाचो युक्ति का मीमांसा सम्मत वास्तविक अर्थ यह है कि जिस अप्राप्त अंश के बोधन में विधि वाक्य का तात्पर्य होता है, वहीं उस विधि वाक्य का प्रतिपाद्य अर्थ होता है।[४२] इस युक्ति का स्पष्टीकरण करते हुए मम्मट कहते हैं कि सिद्ध (भूत) और साध्य (भव्य)

के साथ-साथ उच्चारण किये जाने पर सिद्ध पदार्थ साध्य अर्थात् क्रिया के लिए उपदिष्ट होता है। इस नियम के अनुसार क्रिया पदों से अन्वित कारक पदार्थ प्रधान क्रिया के सम्पादक अपनी क्रिया के सम्बन्ध से साध्यता को प्राप्त कर लेते हैं। तदनन्तर 'अदग्धदहनन्याय' से जो अप्राप्त होता है उसी का विधान करते हैं। अर्थात् जिस प्रकार अग्नि अदग्ध का ही दहन करती है, वैसे ही विधिवाक्य प्रमाणान्तर से अप्राप्त अर्थ का ही बोध कराते हैं।[४३] जिस प्रकार से दग्ध का दहन नहीं होता वैसे ही प्राप्त का पुनः प्रापण भी नहीं होता है। इस तथ्य को और स्पष्ट करने के लिए मम्मट ने दो उदाहरण दिये हैं—

> **'लोहितोष्णीषाः ऋत्विजः प्रचरन्ति'** यह विधिवाक्य श्येन याग के प्रकरण में प्रयुक्त हुआ है। कतिपय प्रधान याग होते हैं और कतिपय इन प्रधान यागों के अङ्गभूत होते हैं जिन्हें गौण याग कहते हैं। प्रधान यागों को प्रकृति और गौण यागों को विकृति याग भी कहा जाता है। प्रकृति याग में याग के सभी विधि-विधानों का पूर्ण रूपेण वर्णन किया जाता है।[४४] विकृति यागों में केवल उन्हीं बातों का वर्णन रहता है जो प्रकृति यागों की अपेक्षा अधिक होता है। शेष विधान प्रकृति यागवत् ही होता है।[४५] श्येनयाग का प्रकृति याग 'ज्योतिष्टोम' है। ज्योतिष्टोम याग में ऋत्विक् प्रचरण के विषय में कहा गया है— **''सोष्णीषा विनीतवसना ऋत्विजः प्रचरन्ति,''** पुनः श्येनयाग में कहा गया है **''लोहितोष्णीषाः ऋत्विजः प्रचरन्ति''**। इसमें सोष्णीष ऋत्विक् प्रचरण तो प्रकृतियाग ज्योतिष्टोम के विधान से ही ज्ञात है। अतः 'लोहितोष्णीषा' यह ऐसा अर्थ है जो प्रकृति याग की अपेक्षा अधिक है और अप्राप्त भी है। इसलिए इस समस्त वाक्य का विधेय यह लोहितोष्णीषत्व (लाल पगड़ी) ही है। क्योंकि उष्णीष युक्त ऋत्विक् प्रचरण करते हैं, यह तो पूर्व से ही ज्ञात था, इसमें कोई नूतन बात नहीं है। ज्योतिष्टोम याग की अपेक्षा श्येनयाग में जो अधिक बात है, वह यह है कि ऋत्विकों की पगड़ी लोहित अर्थात् लाल रङ्ग की होंगी।

अतः 'लोहितोष्णीषाः ऋत्विजः प्रचरन्ति' यह वाक्य प्रचरण का बोध कराने के लिए नहीं, वरन् लाल उष्णीष का बोध कराने के लिए है। यही प्रमाणान्तर से अप्राप्त था। इसलिए इसी अप्राप्त अंश के बोधन में इस विधि-वाक्य का तात्पर्य है और यही इसका विधेयांश है।[४६] इसलिए तात्पर्यवाचोयुक्ति 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' का यही अर्थ है कि जिस अप्राप्त अंश के बोधन के लिए विधि-वाक्य का तात्पर्य होता है, वही उसका प्रतिपाद्य अर्थ है, अतः वही विधेय भी होता है।

- मीमांसकों के तात्पर्यार्थ को बतलाने के लिए मम्मट ने जो दूसरा उदाहरण बतलाया है वह है— **'दध्ना जुहोति'** यह उदाहरण अग्निहोत्र याग के प्रकरण में प्रयुक्त है, इसके पूर्व 'अग्निहोत्रं जुहोति' कहा जा चुका है। अतः यहाँ हवन का विधान तो पहले से प्राप्त है, केवल साधन (हवनीय द्रव्य) का विधान नवीन है; जो कि पहले से प्राप्त नहीं था। इसलिए 'दध्ना जुहोति' इस विधि-वाक्य में होम के अन्य प्रमाण से सिद्ध होने के कारण दध्यादि के करणत्व मात्र का विधान किया गया है। इस विधि-वाक्य का यही विधेय है। अतः तात्पर्य भी उसी में है।

इस प्रकार मम्मट ने उपर्युक्त दोनों उदाहरणों के माध्यम से मीमांसा सम्मत तात्पर्य के वास्तविक अर्थ को उद्घाटित किया है। इन दोनों ही उदाहरणों से मीमांसकों के तात्पर्यवाचो युक्ति का अर्थ बतलाकर मम्मट कहते हैं कि चूँकि जो विधेय होता है, उसी में तात्पर्य होता है इसलिए जो शब्द वाक्य में उपात्त (पठित या श्रुत) होते हैं उसके ही अर्थ में वाक्य का तात्पर्य हो सकता है न कि शब्द के उपात्त न होने पर भी किसी प्रकार से प्रतीत होने वाले अर्थ मात्र में। यदि ऐसा नहीं माना जाएगा तो 'पूर्वो धावति' यहाँ केवल पूर्व में तात्पर्य न होकर पूर्व के सापेक्ष अपर अर्थ में भी तात्पर्य होने लगेगा।[४७] ध्यातव्य है कि तात्पर्यवादी धनञ्जय-धनिक ने विधेय अर्थ के साथ-साथ प्रतीत होने वाले अर्थ में भी तात्पर्य मानकर

उपात्त शब्द के अर्थ के साथ-साथ अनुपात्त शब्द के अर्थ में भी तात्पर्य को सिद्ध किया है। अपने मत की पुष्टि हेतु वे एक उदाहरण देते हैं **'विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्थाः'** इस वाक्य का अर्थ है विष खा लो पर इसके घर भोजन मत करो और इसका तात्पर्य है इसके घर भोजन नहीं करना चाहिए। तात्पर्यवादियों के अनुसार चूँकि इस वाक्य में तात्पर्य को ग्रहण कराने वाला कोई शब्द वाक्य में उपात्त नहीं है इसलिए यह तात्पर्य अनुपात्त शब्द के अर्थ में है।

आचार्य मम्मट तात्पर्यवादियों के इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि यहाँ भी उपात्त शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य है। तात्पर्यवादियों के अनुसार 'विषं भक्षय......' इत्यादि वाक्य में दो वाक्य हैं, जबकि मम्मट के अनुसार यह एक ही वाक्य है और इस वाक्य में प्रयुक्त चकार एक वाक्यता का सूचक है। मम्मट कहते हैं कि इस वाक्य का तात्पर्य 'इसके घर भोजन नहीं करना चाहिए' यह 'मा चास्य गृहे भुङ्थाः' इस उपात्त शब्द के ही अर्थ में है अतः यहाँ भी उपात्त शब्द के अर्थ में ही तात्पर्य है, अनुपात्त शब्द के अर्थ में नहीं।[४८]

तात्पर्यवादी विषं भक्ष्य.......आदि वाक्य को एक वाक्य नहीं मानते। उनके अनुसार दो क्रिया पदों से युक्त वाक्यों का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव नहीं हो सकता।[४९] चूँकि विषं भक्षय......आदि वाक्य में दो 'भक्षय' एवं 'भुङ्थाः' क्रियायें हैं अतः ये दो वाक्य हैं, एक नहीं। इसलिए यहाँ तात्पर्य उपात्त शब्द के अर्थ में नहीं बल्कि अनुपात्त शब्द के अर्थ में स्वीकार करना चाहिए।

तात्पर्यवादियों की शङ्का का समाधान करते हुए मम्मट कहते हैं कि 'विषं भक्षय.......' यह मित्र के द्वारा कहा हुआ वाक्य है। यदि विषं भक्षय को स्वतंत्र वाक्य मानें तो इसका अर्थ अनुपपन्न होगा क्योंकि कोई भी मित्र 'विष खा लो' यह कैसे कहेगा? अतः विषं भक्षय के स्वतंत्र अर्थ के अनुपन्न होने से इसकी आगे आने वाले वाक्य से अङ्गता स्वीकार करनी होगी। तब 'विषं भक्षय' और मा चास्य 'गृहे भुङ्थाः' में अङ्गाङ्गिभाव होने

से इनकी एकवाक्यता बनेगी। इस स्थिति में पूरे वाक्य का तात्पर्य मा चास्य गृहे भुङ्क्था: इस उपात्त शब्द के ही अर्थ में है। अत: यह सिद्ध हुआ कि तात्पर्य सदैव वाक्य में उपात्त शब्द के अर्थ में ही होता है।[५०] इस प्रकार आचार्य मम्मट भट्ट लोल्लट अभिमत तात्पर्यार्थ का वास्तविक स्वरूप प्रतिपादित कर भट्ट लोल्लट के अभिधावृत्ति द्वारा सभी अर्थों में वाच्य कहने वाले 'सोऽयमिषोरिव....' सिद्धांत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि यदि सभी अर्थ अभिधागम्य ही हैं तो मीमांसक लक्षणा को भी क्यों स्वीकार करते हैं? लक्ष्यार्थ की प्रतीति भी तो दीर्घ-दीर्घतर अभिधा व्यापार से ही हो जाएगी। साथ ही चूँकि भट्ट लोल्लट सभी अर्थ को वाच्य ही मानते हैं तो 'ब्राह्मण! पुत्रस्ते जात:' वाक्य सुनने से उत्पन्न हर्ष और 'ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी' को सुनने से उत्पन्न शोक को भी वाच्य ही क्यों न माना जाय? लेकिन यह व्यवहारत: अनुपयुक्त है।[५१]

मम्मट मीमांसा के ही सिद्धांत का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि यदि सभी अर्थ को अभिधागम्य मानेंगे तो शब्दों में पौर्वापर्य नहीं बन पायेगा, जिससे मीमांसकों के श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, और समाख्या आदि मे जो बलाबल का निर्णय है, वह भी नहीं हो सकेगा।[५२] मीमांसा के अनुसार एक ही वाक्य में अर्थ-निर्णय के लिए एकाधिक प्रमाण प्रयोग की आवश्यकता हो तो, पूर्व पूर्व प्रमाणों को प्रबल एवं उत्तर-उत्तर प्रमाणों को दुर्बल समझना चाहिए।[५३] इस प्रकार भट्ट लोल्लट का सिद्धांत उनके अपने शास्त्र से ही विरोधी हो जाएगा; अत: सभी अर्थ को वाच्य नहीं माना जा सकता। इस प्रकार मम्मट ने चाहें अभिहितान्वयवाद हो या अन्विताभिधानवाद हो, सभी मतों में व्यङ्ग्यार्थ को अन्य अर्थों से पृथक् बतलाकर व्यञ्जना वृत्ति की अपरिहार्यता को सिद्ध किया है।

यदि उपर्युक्त विवेचनानुसार मम्मट के तात्पर्य-विषयक विचार पर दृष्टिपात किया जाय तो दृष्टिगत होता है कि वे मीमांसा अभिमत तात्पर्यार्थ की तो बात करते हैं लेकिन तात्पर्यवृत्ति का उल्लेख उन्होंने कहीं पर भी नहीं किया है। जहाँ अभिनवगुप्त ने पदार्थों में अन्वय कराने के लिए

तात्पर्यवृत्ति का उल्लेख किया है वही मम्मट तात्पर्यार्थ रूप विशेष वाक्यार्थ के प्रतिपादनार्थ पदार्थों में अन्वय के साधक आकाङ्क्षा, योग्यता एवं सन्निधि का ही उल्लेख किया है। हो सकता है कि मम्मट ने सम्भवत: अभिनवगुप्त द्वारा पहले से ही अन्वय की उपपादिका तात्पर्यवृत्ति के उल्लिखित एवं विवेचित होने से उसके पुन: उल्लेख एवं विवेचन को अनावश्यक समझा हो परन्तु वे तात्पर्यार्थ को पदार्थ से भिन्न बतलाकर उसे विशेष वपु कहकर उसके प्रतिपादन के लिए अभिधा से अतिरिक्त किसी अन्य वृत्ति का सङ्केत अवश्य करते हैं जिसे अभिनवगुप्त ने तात्पर्यवृत्ति कहा है। अत: यह कहा जा सकता है कि यद्यपि उन्होंने तात्पर्यवृत्ति का नाम्ना उल्लेख नहीं किया है तथापि तात्पर्यार्थ का बोध तात्पर्यवृत्ति से होता है, यह उन्हें भी मान्य है। जहाँ तक तात्पर्यार्थ की बात है तो मम्मटाभिमत तात्पर्यार्थ भी मीमांसकों के तात्पर्यार्थ से भिन्न है। जहाँ मीमांसकों के तात्पर्यार्थ में सभी प्रकार के अर्थ आ जाते हैं वहीं मम्मट उसे व्यङ्ग्यार्थ से भिन्न मानते हैं। मम्मट के अनुसार तात्पर्यार्थ वाक्य में पठित शब्दों में ही होता है। वाक्य में पठित शब्द से अतिरिक्त शब्द द्वारा जिस अर्थ का बोध होता है उसे वे व्यङ्ग्यार्थ कहते हैं। जबकि तात्पर्यवादियों के अनुसार तात्पर्यार्थ वाक्य में उपात्त एवं अनुपात्त दोनों ही प्रकार के शब्दों में होता है लेकिन मम्मट इसका खण्डन करते हैं। इस प्रकार जहाँ मीमांसकों का तात्पर्यार्थ एक व्यापक अवधारणा है वही मम्मट ने उसे वाक्यार्थ मात्र में सीमित कर दिया है।

३.१.५. विद्यानाथ एवं तात्पर्यवृत्ति

विद्यानाथ ऐसे ध्वनिवादी आचार्य हैं जिन्होंने तात्पर्यार्थ को व्यङ्ग्यार्थ बतलाकर तात्पर्यवृत्ति का खण्डन किया है। उनके अनुसार चूँकि व्यङ्ग्यार्थ के अतिरिक्त तात्पर्यार्थ नामक अर्थ की सत्ता ही नहीं होती, अत: तात्पर्यार्थ के बोध के लिए हमें अलग से तात्पर्यवृत्ति को स्वीकार करने की आवश्यकता ही नहीं है। विद्यानाथ के तात्पर्य विषयक मत की जानकारी उनके ग्रन्थ प्रातापरुद्रीय से मिलती है जिनके मत का सम्यक्

विवेचन उनके टीकाकार कुमारस्वामी ने प्रतापरुद्रीय के अपने रत्नापण नामक टीका में किया है।

विद्यानाथ के अनुसार वाचक, लक्षक एवं व्यञ्जक भेद से काव्यगत शब्द जैसे तीन प्रकार का होता है, उसी प्रकार उन शब्दों के अर्थ भी वाच्य, लक्ष्य एवं व्यङ्ग्य के भेद से तीन प्रकार के होते हैं।[५४] यहाँ शङ्का होती है कि विद्यानाथ के पूर्ववर्ती ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त, मम्मटादि ने जब वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, तात्पर्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ नामक चार अर्थों की बात की है तो विद्यनाथ तीन ही अर्थ कैसे बतलाते हैं? इस शङ्का का समाधान करते हुए विद्यानाथ कहते हैं कि तात्पर्यार्थ भी व्यङ्ग्यार्थ ही है, उससे पृथक् नहीं है। इस प्रकार तात्पर्यार्थ को व्यङ्ग्यार्थ में ही अन्तर्भूत मानकर विद्यानाथ ने अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना नामक तीन शब्दवृत्तियों को ही स्वीकार किया है।[५५] विद्यानाथ केवल अभिधादि तीन वृत्तियों की ही बात करते हैं। उन्होंने न तो तात्पर्यवृत्ति का नाम लिया है और न ही तात्पर्यार्थ को परिभाषित किया है, लेकिन विद्यानाथ के पूर्ववर्ती ध्वनिवादियें ने तात्पर्यार्थ को तात्पर्यवृत्ति से निष्पन्न माना है और विद्यानाथ चूँकि उस तात्पर्यार्थ को व्यङ्ग्यार्थ में ही अन्तर्भूत मानते हैं अतः ऐसा कहना गलत न होगा कि वे तात्पर्यवृत्ति का अन्तर्भाव भी व्यञ्जना वृत्ति में ही कर लेते हैं। जहाँ तक तात्पर्यार्थ की बात है तो इसके बारे में विशद चर्चा उनके टीकाकार कुमारस्वामी ने किया है।

कुमारस्वामी कहते हैं कि तात्पर्य शब्द में तत् शब्द रसादि का बोधक है अतः वक्ता की बुद्धि में सन्निधापित वाक्यावगम्य वाक्यार्थ जो रसादि रूप है उसी को तत् शब्द कहता है। इसलिए उसमें पर या आसक्त जो विषय हैं वे तत्पर कहलाते हैं और उनका भाव अर्थात् उनकी क्रिया या धर्म तात्पर्य कहलाता है।[५६] यहाँ पर कुमारस्वामी मीमांसकों के तात्पर्यवृत्ति से बोधित तात्पर्यार्थ को बताते हुए पूर्वपक्ष के रूप में शङ्का करते हैं कि जब अभिहित अभिधा के द्वारा पदों से उपस्थापित अर्थों की अथवा अर्थों के अभिधायी अर्थात् अभिधा से अर्थों

का प्रतिपादन करने वाले पदों की प्रत्यायनी अथवा विशिष्ट परस्पर सम्बद्ध अर्थों का बोध कराने वाली शक्ति ही तात्पर्य है, ऐसा मतभेद से मीमांसक लोग वर्णन करते हैं अतः उनके मत में 'देवदत्त! गामानय' इत्यादि स्थल में देवदत्तकर्तृक, दण्डकरणक, गो कर्मक आनयन रूप विशिष्ट एक-दूसरे से सम्बद्ध अर्थ ही जो व्यङ्ग्यत्व से विधुर हैं अर्थात् व्यङ्ग्य नहीं है, को जब तात्पर्य शक्ति से अवगत होने के कारण तात्पर्यार्थ कहते हैं तब इस विशिष्ट अर्थ का व्यङ्ग्य में अन्तर्भाव कैसे सम्भव है।[५७] कुमारस्वामी के कहने का अभिप्राय यह है कि यहाँ एक शङ्का यह होती है जब मीमांसक लोग व्यङ्ग्यार्थ से अतिरिक्त तात्पर्यार्थ को स्वीकार करते हैं तब उसे व्यङ्ग्यार्थ में ही कैसे अन्तर्भावित किया जा सकता है?

कुमारस्वामी इस शङ्का का समाधान करते हुए कहते हैं कि यहाँ पर ऐसी शङ्का उपयुक्त है लेकिन केवल उतने ही अर्थ को कहने में कवि के संरम्भ की उद्योग की विश्रान्ति नहीं हो जाती, क्योंकि काव्यशब्दों का अन्वय एवं व्यतिरेक के द्वारा प्रवृत्ति का विषय या निवृत्ति का विषय कोई दूसरा प्रयोजन प्रधान नहीं बन सकता है। यदि बन सकता है तो प्रवृत्तिकारी एवं निवृत्तिकारी अर्थों को तिरस्कृत कर प्रतीत होने वाला रसादि ही बन सकता है जिसका परिणाम सामाजिकों का आनन्दास्वाद है। अतः वह रस ही तात्पर्यार्थ है और उसको प्रतीत करा देने वाली पदों की शक्ति या अर्थों की शक्ति ही कवियों के सिद्धान्त में तात्पर्य है। वह तात्पर्यशक्ति अभिधा नहीं है क्योंकि उस अर्थ में प्रामाणिकों का संकेत नहीं है। वह लक्षणा भी नहीं है, क्योंकि वहाँ मुख्यार्थ बाधादि लक्षणा के निमित्त नहीं है। अतः यह तात्पर्य जिसका लक्षण आगे कहेंगे, उस व्यञ्जना का ही नामकरण है और व्यञ्जना से प्रतीत होने वाला व्यङ्ग्यार्थ ही तात्पर्यार्थ है, यही आचार्य का आशय है।[५८] इस प्रकार कुमारस्वामी ने उदाहरणों के माध्यम से यह सिद्ध किया है कि कवियों द्वारा स्वीकृत तात्पर्य व्यञ्जना का ही अपर पर्याय है, उसकी व्यञ्जना से अलग सत्ता नहीं है। अतः तात्पर्यार्थ भी व्यङ्ग्यार्थ ही है।[५९]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जहाँ भोज ने तात्पर्य को ध्वनि से अभिन्न बतलाकर दोनों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है, वही विद्यानाथ ने भोज से भी आगे बढ़कर तात्पर्य को ध्वनि में ही अन्तर्भावित कर दिया है। लेकिन विद्यानाथ तथा कुमारस्वामी जिस तात्पर्यार्थ की बात करते हैं वह मीमांसकों के तात्पर्यार्थ से भिन्न है। इसलिए इनके द्वारा तात्पर्यार्थ को व्यङ्ग्यार्थ ही बतलाया गया है। जहाँ मीमांसकों की तात्पर्यवृत्ति वाक्य में पदों का अन्वय करती है वहीं कुमारस्वामी ने उसे काव्यार्थबोध में रस की प्रतिपादिका के रूप में उपस्थित किया है। जहाँ मीमांसकों का तात्पर्यार्थ वाक्यार्थ रूप होता है वही विद्यानाथ एवं कुमारस्वामी ने उसे रसस्वरूप बतलाया है। यही कारण है कि विद्यानाथ ने तात्पर्यार्थ को व्यङ्ग्यार्थ से पृथक् नहीं माना है, क्योंकि ध्वनिवादियों के अनुसार रस व्यङ्ग्य ही हो सकता है और चूँकि तात्पर्य रसस्वरूप होता है अतः उसे व्यङ्ग्यार्थ ही मान लिया है। विद्यानाथ द्वारा तात्पर्यवृत्ति को अलग से उद्धृत न करने का कारण भी यही है कि जब वे व्यङ्ग्यार्थ का प्रतिपादन करने वाली व्यञ्जना वृत्ति का उल्लेख करते ही हैं तथा व्यङ्ग्यार्थ ही तात्पर्यार्थ है तो तात्पर्यार्थ को बताने के लिए तात्पर्यवृत्ति को अलग से कहने की आवश्यकता को महसूस नहीं करते, क्योंकि तात्पर्यार्थ का बोध भी व्यञ्जनावृत्ति ही करा देती है। ध्यातव्य है कि कुमारस्वामी ने प्रतापरुद्रीय की टीका में विद्याधर के भी तात्पर्यवृत्ति के असहमति का सङ्केत किया है।[६०]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ अन्य ध्वनिवादियों ने मीमांसकों के तात्पर्यार्थ को एक अलग अर्थ के रूप में स्वीकार तो किया है लेकिन उनके तात्पर्यवृत्ति के क्षेत्र को सीमित रूप में ही स्वीकार किया है। वहीं विद्याधर एवं विद्यानाथ ने तात्पर्यार्थ को व्यङ्ग्यार्थ में ही अन्तर्भावित कर तात्पर्यवृत्ति को एक अलग से वृत्ति मानने का विरोध किया है।

३.१.६. आचार्य विश्वनाथ एवं तात्पर्यवृत्ति

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना रूप

उपाधि के वैशिष्ट्य से शब्द भी तीन प्रकार के होते हैं।[६१] विश्वनाथ ने अभिधादि वृत्तियों को शब्द की उपाधि माना है। उनके अनुसार वाचक शब्द वह है जिसमें अभिधा धर्म रहा करता है; लक्षक वह है जिसमें लक्षणा धर्म का सम्बन्ध होता है तथा व्यञ्जना धर्म से सम्बद्ध शब्द व्यञ्जक शब्द कहलाता है।[६२] इस प्रकार विश्वनाथ ने अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना के पश्चात् तात्पर्यवृत्ति का उल्लेख करते हुए कहा है कि कुछ लोगों ने पदार्थों में अन्वय का बोध कराने वाली तात्पर्य नामक एक वृत्ति को माना है, जिसके द्वारा उपस्थापित अर्थ तात्पर्यार्थ कहलाता है और वह तात्पर्यार्थ ही वाक्यार्थ होता है।[६३] विश्वनाथ ने इस कारिका की वृत्ति में कहा है कि इस वृत्ति की मान्यता अभिहितान्वयवादी लोगों ने प्रदान किया है। उनके अनुसार अभिधावृत्ति पदार्थों के बोध कराने के पश्चात् विराम ले लेती है। तदनन्तर वाक्यार्थ रूप पदार्थों में अन्वय का बोध जिस वृत्ति के माध्यम से किया जाता है, वह तात्पर्यवृत्ति कहलाती है। उस वृत्ति से प्रतिपादित अर्थ ही तात्पर्यार्थ कहलाता है और उसी अर्थ के बोधक वाक्य होते हैं। अर्थात् वाक्यों से तात्पर्यवृत्ति द्वारा पदार्थों के अन्वित हो जाने के पश्चात् तात्पर्यार्थ रूप वाक्यार्थ का बोध कराया जाता है। विश्वनाथ रसात्मक वाक्य को काव्य मानते हैं[६५] तथा रस को व्यङ्ग्य बतलाकर उसके अवबोधनार्थ अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्यवृत्तियों की असमर्थता व्यक्त करते हुए एक चतुर्थ वृत्ति की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हैं।[६६] उनका मन्तव्य है कि रस भावादि की प्रतीति में अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य नामक वृत्तियाँ विश्रान्त रहती हैं अर्थात् इन वृत्तियों का व्यापार विरत होता है अतः रसादि की प्रतीति के लिए चतुर्थ वृत्ति व्यञ्जना को स्वीकार करना ही पड़ता है। इस प्रसङ्ग में विश्वनाथ ने तात्पर्यवृत्ति को व्यङ्ग्यार्थ प्रतिपादन में किसी प्रकार असमर्थ बतलाते हुए तात्पर्यवादियों के मत का खण्डन कर व्यञ्जनावृत्ति को स्थापित किया है, इसे निम्न प्रकार से देखा जा सकता है—

विश्वनाथ के अनुसार अभिहितान्वयवादी जिस तात्पर्यवृत्ति की बात करते हैं वह व्यङ्ग्यार्थ के अवबोधन में असमर्थ ही रहा करती है। इसका कारण बतलाते हुए आचार्य का कहना है कि कोई भी वृत्ति एक

बार प्रयुक्त होने के पश्चात् विरत हो जाती है। चूँकि तात्पर्यवृत्ति का जो भी व्यापार है वह एकमात्र संसर्ग अथवा वाक्य घटक पदों में अन्वय अर्थात् उनमें परस्पर सम्बन्ध कराने में ही समाप्त हो जाता है। अत: उस वाक्यार्थ रूप तात्पर्यार्थ के पश्चात् प्रतीत होने वाले व्यङ्ग्यार्थ का बोधन कराने में वह असमर्थ हो जाती है।[६७] आचार्य विश्वनाथ भट्ट लोल्लट के दीर्घ-दीर्घतर अभिधा व्यापार वाले सिद्धान्त का तथा धनिक के तात्पर्यवृत्ति विषयक सिद्धांत का मीमांसाभिमत सिद्धांत से ही विरोध दिखलाकर उनका खण्डन करते हुए उन दोनों को अपने मूल सिद्धांत से द्रोह करने के लिए दण्ड्य बतलाया है।[६८]

ध्यातव्य है कि भट्ट लोल्लट ने अभिधा व्यापार से ही समस्त अर्थों की प्रतीति प्रतिपादित कर व्यञ्जना को व्यर्थ कहा था। धनञ्जय-धनिक ने दशरूपक में तात्पर्यवृत्ति को यावत्कार्यप्रसारी बतलाकर प्रतीयमानार्थ की प्रतीति भी तात्पर्यवृत्ति से मानी है। विश्वनाथ ने इन दोनों ही मतों को (चूँकि ये दोनों ही मीमांसाभिमत है); मीमांसा के सिद्धान्त के विरुद्ध कर उसका खण्डन करते हैं। मीमांसकों की मान्यता है कि "**शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभाव:**" अर्थात् शब्द, बुद्धि और कर्म ये तीनों ही जब एक बार प्रवृत्त होकर विरत हो जाते हैं तो फिर इनके व्यापार का अभाव होता है। यदि सिद्धांत की दृष्टि से शब्दवृत्तियों पर दृष्टिपात किया जाय तो अभिधा संकेतित अर्थ के बोधन में और तात्पर्यवृत्ति वाक्यस्थ पदार्थों का परस्पर अन्वय करने में प्रवृत्त होने के पश्चात् अन्य व्यापारों में प्रवृत्त नहीं हो सकती। इसी आधार पर विश्वनाथ कहते हैं कि जब मीमांसकों के अनुसार ही अभिधावृत्ति द्वारा एक से अधिक व्यापार नहीं किया जा सकता तो एक अभिधावृत्ति से ही समस्त व्यापारों को मानने वाले भट्ट लोल्लट का मत निश्चित रूप से निराधार ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार तात्पर्यवृत्ति भी पदार्थों के परस्पर अन्वयरूप व्यापार में क्षीण हो जाने के कारण प्रतीयमानार्थ की प्रतीति में सक्षम नहीं हो सकती। अत: धनिक की मान्यता भी असंगत है। इसलिए मीमांसक मतानुयायी होने पर भी

मीमांसकों की मान्यता के विरुद्ध कथन करने के कारण ये विद्वान् मीमांसकों द्वारा ही दण्डनीय हो जाते हैं।

तात्पर्यवादी धनञ्जय-धनिक ने तात्पर्य विषयक अपने जिस मत का प्रतिपादन दशरूपक में किया है उसको पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत करते हुए विश्वनाथ कहते हैं कि धनिक के अनुसार पौरुषेय और अपौरुषेय सभी वाक्य कार्यनिष्ठ होते हैं और उनका एक उद्देश्य होता है। उद्देश्य विहीन वाक्य तो व्यक्ति के प्रलापवत् ही होंगे। काव्य के शब्दों का कार्य (उद्देश्य) निरतिशय सुखास्वादरूप रस के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं; अतः वही कार्य रूप में अवधारित किया जाता है और जिस उद्देश्य हेतु वाक्य का प्रयोग किया जाता है, वही उसका शब्दार्थ होता है। इस न्याय से निरतिशय सुखास्वादरूप रस काव्य रूपी वाक्य का वाक्यार्थ की कहा जाएगा।[६९] चूँकि धनिक ने वाक्य के तत्परत्व को आधार बनाकर ही स्वमत का आख्यान किया है इसलिए कविराज विश्वनाथ उनके तत्परत्व पर ही प्रश्न चिह्न उपस्थित करते हैं। काविराज पूछते हैं कि यह तत्परत्व क्या है? तत्परत्व के दो अभिप्राय हो सकते हैं— प्रथम यह है कि धनिक के तत्परत्व से तदर्थत्व अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ का आशय हो। यदि ऐसा है तब तो कोई विवाद ही नहीं, क्योंकि वाक्य व्यङ्ग्यार्थक तो हो ही सकता है। दूसरा, तत्परत्व का द्वितीय अभिप्राय तद्बोधक हो सकता है; तब इसका आशय होगा कि तात्पर्यवृत्ति द्वारा व्यङ्ग्यार्थ का बोध होता है। परन्तु यहाँ विचारणीय है कि धनिक ने जिस तात्पर्यवृत्ति से व्यङ्ग्यार्थ का बोधकत्व माना है, वह वृत्ति क्या मीमांसकों की तात्पर्यवृत्ति ही है? यदि यह अभिहितान्वयवाद में प्रसिद्ध तात्पर्यवृत्ति है तो इससे व्यङ्ग्यार्थ का बोध नहीं हो सकता है क्योंकि वह तो वाक्य स्थित पदार्थों में परस्पर अन्वय कराने में ही क्षीण हो जाती है। यदि धनिक की तात्पर्यवृत्ति अभिहितान्वयवाद सम्मत तात्पर्यवृत्ति से भिन्न है तो यह व्यञ्जनावृत्ति का ही नामभेद से कथन मात्र है।[७०]

विश्वनाथ कहते हैं कि यदि धनिक की तात्पर्यवृत्ति को व्यञ्जना से भिन्न तथा परम्परा सम्मत वृत्ति ही मानें तो पुनः एक शङ्का होती है कि क्या इस

तात्पर्यवृत्ति से विभावादि संसर्ग बोध और रस प्रतीति साथ-साथ हो सकेगी? इन दोनों की साथ-साथ प्रतीति तो हो ही नहीं सकती, क्योंकि विभावादि संसर्गबोध को रसप्रतीति में कारण-कार्य भाव माना गया है। साथ-साथ होने में यह प्रसिद्ध कारण-कार्य भाव सम्बन्ध ही न रहेगा। भरतमुनि के रस-सूत्र में भी विभानुभाव से रस की निष्पत्ति कहकर इनका कारण-कार्य भाव प्रतिपादित किया गया है।[७१] अतः धनञ्जय-धनिक की तात्पर्यवृत्ति न तो अभिहितान्वय सम्मत है न कोई परम्परागत वृत्ति ही है। इसलिए यह व्यञ्जना का ही प्रकारान्तर से कथन है। इस प्रकार विश्वनाथ ने तात्पर्यवादी धनञ्जय एवं धनिक के तात्पर्यवृत्ति विषयक मन्तव्य का अपने मौलिक तर्कों से खण्डन कर उनकी तात्पर्यवृत्ति को एक अलग वृत्ति न मानकर उसे व्यञ्जना का ही अपर रूप माना है।

यदि कविराज विश्वनाथ के तात्पर्य विषयक मन्तव्य पर विचार किया जाय तो यह देखने को मिलता है कि ये अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का ही समर्थन करते प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार मम्मट ने तात्पर्यवादियों के मत का खण्डन कर तात्पर्यवृत्ति को व्यङ्ग्यार्थ के प्रतिपादन में असमर्थ बतलाया है उसी प्रकार विश्वनाथ भी तात्पर्यवादियों के तर्कों को मीमांसा के मूल सिद्धान्तों का विरोधी बतलाकर उनका खण्डन किया है। जहाँ मम्मट ने तात्पर्यवृत्ति का नाम्ना उल्लेख नहीं किया है, वहीं विश्वनाथ इसका नाम्ना उल्लेख करते हुए इसे अभिहितान्वयवादियों द्वारा स्वीकृत बतलाया है। विश्वनाथ ने मीमांसकों द्वारा स्वीकृत तात्पर्यवृत्ति को वाक्यार्थ बोध में पदार्थों का अन्वय मात्र की उपपादिका के रूप में उल्लेख करते हुए उसे व्यङ्ग्यार्थ प्रतिपादन में अक्षम बतलाकर व्यञ्जनावृत्ति की सिद्धि किया है। उनके अनुसार यदि तात्पर्यवादियों (धनञ्जय-धनिक) द्वारा स्वीकृत तात्पर्यवृत्ति मीमांसा अभिमत तात्पर्यवृत्ति नहीं है तो वह अवश्य ही व्यञ्जना का ही प्रतिरूप है, लेकिन यदि उसे मीमांसा अभिमत तात्पर्यवृत्ति ही माना जाय तो उसे एक अलग वृत्ति के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा जो व्यङ्ग्यार्थ के प्रतिपादन में समर्थ नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्वनाथ भी मीमांसा अभिमत तात्पर्यवृत्ति को सीमित अर्थ में ही स्वीकार करते हैं।

२.२. ध्वनिविरोधी/तात्पर्यवादी आचार्य एवं तात्पर्यवृत्ति विषयक उनका मन्तव्य

२.२.१ ध्वनिविरोधी आचार्य महिमभट्ट एवं तात्पर्यवृत्ति

ध्वनिविरोधी आचार्यों में जिन लोगों ने शब्द-वृत्तियों पर विचार-विमर्श किया है उनमें महिमभट्ट ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने सर्वप्रथम तात्पर्यवृत्ति विषयक उल्लेख अपने ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' में किया है। महिमभट्ट एकमात्र अभिधावृत्ति को ही स्वीकार कर अन्य लक्षणा, तात्पर्य एवं व्यञ्जना वृत्तियों का अन्तर्भाव अनुमान में कर लेते हैं। उन्होंने तात्पर्यवृत्ति को अलग से वृत्ति के रूप में स्वीकृति प्रदान नहीं किया है। उसे उन्होंने अनुमान में ही तथा तात्पर्यार्थ को अनुमेयार्थ में ही अन्तर्भावित माना है, जिसकी जानकारी उनके ग्रन्थ व्यक्तिविवेक से मिलती है। व्यक्तिविवेक के प्रथम विमर्श में वे तात्पर्यवादियों के 'विषं भक्षय........' आदि उदाहरण को उपस्थित कर यह कहते हैं कि "विषं भक्षय मा चास्य गृहे भङ्क्‌था:" इस वाक्य में 'अस्य' यह पद 'इदम्' शब्द द्वारा प्रतीत व्यक्ति के घर किये जाने वाले भोजन को जहर से भी अधिक दारुण परिणामता का अनुमान कराता है, क्योंकि अपने किसी भाई-बन्धु पर हित बुद्धि रखने वाला कोई भी व्यक्ति जहर खाने की सलाह नहीं देता है। इसलिए यहाँ दूसरे अर्थ की प्रतीति होती तो अवश्य है लेकिन वह प्रतीति तात्पर्यशक्ति से नहीं अपितु अर्थशक्ति से होती है। अर्थात् प्रकरण एवं वक्ता के स्वरूप को जानकर उक्त वाक्य में श्रोता यह सहज ही अनुमान लगा लेता है कि वक्ता इस घर में भोजन करने से मना कर रहा है। इस प्रकार तात्पर्यवादी जिस अर्थ की प्रतीति तात्पर्यवृत्ति से मानते हैं उसकी प्रतीति श्रोता को अनुमान से ही हो जाती है।[७२]

इस प्रकार हम देखते हैं कि तात्पर्यवादी जिस तात्पर्यार्थ का बोध कराने हेतु तात्पर्यवृत्ति को स्वीकार करते हैं, महिमभट्ट ने उनके तात्पर्यार्थ को अनुमानगम्य बतलाकर उनके तात्पर्यवृत्ति का अनुमान में ही अन्तर्भाव कर लिया है।

२.२.२. तात्पर्यवादी धनञ्जय एवं धनिक

आचार्य धनञ्जय एवं धनिक ऐसे ध्वनिविरोधी एवं तात्पर्यवादी आचार्य हैं जिन्होंने मीमांसकों की तात्पर्यवृत्ति को स्वीकर कर उसे काव्य में समुचित स्थान देकर उसके क्षेत्र को अपेक्षित विस्तार प्रदान किया है। जहाँ मीमांसकों की तात्पर्यवृत्ति वाक्यार्थ बोध में पदार्थों में अन्वय करने वाली वृत्ति के रूप में समादृत है वही धनञ्जय एवं विशेषकर धनिक उसके आयाम को विस्तृत कर उसके क्षेत्र में ध्वनिवादियों के प्रतीयमानार्थ को भी समाहित कर लिया है। धनञ्जय ने तात्पर्यवृत्ति विषयक अपने मन्तव्य को दशरूपक नामक ग्रन्थ में प्रकट किया है जिसका स्पष्टीकरण धनिक ने किया है। ध्यातव्य है कि धनञ्जय द्वारा लिखित दशरूपक कारिकाओं में निबद्ध है जिस पर धनिक ने अवलोक नामक वृत्ति की रचना की। धनिक ने तात्पर्यवृत्ति पर विशद विवेचन अपने काव्यनिर्णय नामक ग्रन्थ में किया है जिसका सङ्केत वे स्वयं दशरूपक के अवलोक वृत्ति में करते हैं। दुर्भाग्यवश यह ग्रन्थ सम्प्रति अप्राप्त है, अतः उस ग्रन्थ की जिन कतिपय कारिकाओं को धनिक ने अपने अवलोकवृत्ति में उद्धृत किया है, उसी के आधार पर धनिक के तात्पर्य विषयक मन्तव्य की जानकारी मिलती है।

धनञ्जय और धनिक ने दशरूपक नामक ग्रन्थ के चतुर्थ प्रकाश में व्यञ्जना पर विचार करते हुए उसका पर्यवसान तात्पर्यवृत्ति में दिखलाया है। धनञ्जय तथा धनिक दोनों ही भाट्ट मीमांसकों से अत्यधिक प्रभावित थे। वे अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्य इन तीन वृत्तियों को ही स्वीकार करते हैं। ध्वनिवादियों द्वारा कल्पित तुरीयावृत्ति व्यञ्जना इन्हें मान्य नहीं है। ध्वनिवादी रस को व्यङ्ग्य मानते हैं तथा उसकी प्रतीति के लिए व्यञ्जना व्यापार की कल्पना करते हैं। धनिक ने दशरूपक के चतुर्थ प्रकाश में धनञ्जय की कारिकाओं की वृत्ति में ध्वनिवादियों के मत का खण्डन करते हुए तात्पर्य विषयक स्वमत को स्थापित किया है। धनञ्जय के अनुसार जिस प्रकार किसी वाक्य रूप में अभिहित या प्रकरणादि से बुद्धिस्थ क्रिया कारकों से युक्त होकर वाक्यार्थ बन जाती है वैसे ही विभावानुभाव, संचारी द्वारा स्थायी भाव भी काव्य के वाक्यार्थ के रूप में प्रतीत होते हैं।[७३]

धनिक के अनुसार धनञ्जय ने जिसे वाक्यार्थ कहा है, वह तात्पर्यार्थ ही है तथा वह तात्पर्यवृत्ति से लभ्य है। धनञ्जय के वाक्यार्थ विषयक मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए धनिक वृत्ति में कहते हैं कि कतिपय वाक्यों में क्रिया का बोध कराने वाले शब्द साक्षात् उपात्त होते हैं। परन्तु कतिपय वाक्यों में ऐसी भी स्थिति होती है कि क्रिया वाचक शब्द साक्षात् उपात्त नहीं होते। अर्थात् उसमें क्रिया का साक्षात् कथन नहीं होता, वह बुद्धिस्थ होती है। प्रथम प्रकार के वाक्य का उदाहरण 'गामभ्याज' इसमें 'अभ्याज' क्रियावाचक शब्द उपात्त है, द्वितीय प्रकार का वाक्य है 'द्वारं द्वारं' जिसका क्रियावाची शब्द अनुपात्त है। फिर भी प्रकरण आदि के अनुसार 'द्वार खोलो' अथवा 'द्वार बन्द करो' यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार प्रकरण के विमर्श से और कारकों की सहायता से क्रिया का ज्ञान हो जाता है और वही वाक्यार्थ होता है। इसी प्रकार विभावानुभावों के द्वारा स्थायीभाव भी काव्य के वाक्यार्थ के रूप में उपस्थित होता है। जैसे वाक्य में क्रियावाची शब्द उपात्त होते हैं, वैसे ही कहीं-कहीं काव्य में भी स्थायीभाव के सूचक शब्द उपात्त होते हैं। जैसे 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया.......' आदि में 'प्रीत्यै' शब्द स्थायीभाव का सूचक है जो कि वाक्य में उपात्त है। कहीं पर इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग नहीं होता और विभावानुभावादि के साथ अविनाभाव से सम्बद्ध स्थायीभाव सहृदय के चित्त में स्वतः स्फुरित हो जाता है। विभाव, अनुभाव आदि का काव्य में साक्षात् शब्दशः कथन होता ही है। ये संस्कार परम्परा से स्थापित भावों को पुष्ट करते हैं। ये रत्यादि वाक्यार्थ रूप होते हैं।[७४] यदि धनञ्जय के अभिप्राय को संक्षेप में कहा जाय तो उसे इस प्रकार से देख सकते हैं—

किसी भी लौकिक वाक्य में दो प्रकार के पदों का प्रयोग होता है, एक कारक पद और दूसरा क्रियापद। इन्हीं को भर्तृहरि आदि वैयाकरणों ने सिद्ध और साध्य पद कहा है। वक्ता का तात्पर्य वही होगा जो अभी तक सिद्ध नहीं किन्तु साध्य ही है। अतः क्रिया में ही वाक्य का तात्पर्य निहित होता है। किसी भी वाक्य में क्रिया रूप वाक्यार्थ (तात्पर्यार्थ) का होना

आवश्यक माना गया है चाहे उस क्रिया के वाचक शब्द का प्रयोग वाक्य में हुआ हो या न हुआ हो। इसी प्रकार काव्य में वाच्यरूप से उपात्त अथवा प्रकरणादि के द्वारा बुद्धिस्थ रूप में प्रतीत रत्यादि स्थायीभाव किसी व्यञ्जना जैसी कल्पित शक्ति का विषय न होकर वाक्य का वास्तविक वाक्यार्थ ही है।

यहाँ ध्वनिवादी शङ्का करते हैं कि अश्रूयमाण पदों के अर्थ को वाक्यार्थ कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि रसादि अर्थ वाक्य में प्रयुक्त पदों का वाच्यार्थ नहीं है और रसादि का वाचक कोई पद वाक्य में नहीं है। ऐसी स्थिति में अश्रूयमाण पदों के अर्थ में वाक्यार्थ की सम्भावना कैसे होगी? धनिक इस शङ्का का परिहार करते हुए कहते हैं कि यह प्रश्न उचित नहीं है। क्योंकि तात्पर्य शक्ति का पर्यवसान वक्ता के प्रयोजन (कार्य) तक रहता है। अत: जहाँ तक वक्ता का कार्य प्रसारित होगा, वहाँ तक तात्पर्यवृत्ति का क्षेत्र होगा। वक्ता के अभीष्ट अर्थ का द्योतन कराने के पश्चात् ही तात्पर्यशक्ति क्षीण होगी। संसार में जितने वाक्यों का प्रयोग होता है, चाहे वे लौकिक भाषा के वाक्य हों या वैदिक वाक्य हों, किसी कार्य को लेकर ही आते हैं; उस प्रयोजन की सिद्धि ही उस वाक्य का लक्ष्य होता है। यदि वाक्य में कोई कार्य या प्रयोजन न होगा तो वह उन्मत्त प्रलाप के समान निरर्थक ध्वनि-समूह ही कहलाएगा।[७५]

धनिक के अनुसार काव्य में प्रयुक्त शब्दों और विभावादि में अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध होता है। यदि काव्य में इनके सूचक शब्द हैं तो इनकी प्रतीति भी होगी परन्तु इन विभावादि में ही रस नहीं है। ये तो रस के प्रतिपादक मात्र हैं। इनका प्रतिपाद्य तो 'निरतिशयसुखास्वाद' रस है। इस प्रकार धनिक ने विभावादि और रस में प्रतिपादकप्रतिपाद्य भाव सम्बन्ध माना है। जैसे वाक्य में पद होते हैं वैसे ही काव्य में विभावादि हैं तथा रस वाक्यार्थस्थानीय है। धनिक कहते हैं कि काव्य, काव्योपात्तशब्द विभावादि तथा स्थायीभाव एवं रस के परस्पर सम्बन्ध की पर्यालोचना करने पर काव्यरूप वाक्य का हमें केवल एक ही कार्य या प्रयोजन

दिखाई पड़ता है, वह है सहृदय के चित्त में आनन्दोद्भूति करना। यह आनन्दोद्भूति विभावादि से युक्त स्थायी के कारण होती है। काव्य में विभावादि से युक्त स्थायीभाव की पर्यालोचना करने पर ही सहृदय को आनन्द की प्राप्ति होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य प्रयुक्त वाक्य की प्रतिपादक शक्ति (तात्पर्य शक्ति) काव्य के प्रतिपाद्य तत्तद् रस के द्वारा आकृष्ट होती है, कार्यरूप रस उस शक्ति को क्रियमाण होने के लिए बाध्य करता है। इसलिए वाक्य की प्रतिपादक तात्पर्य शक्ति को रस रूप स्वार्थ की प्रतीति कराने के लिए विभावादि अन्य साधनों की आवश्यकता होती है तथा उन विभावादि के प्रतिपादन के द्वारा ही वह शक्ति रस की प्रतीति कराकर पर्यवसित होती है। रस प्रतीति की सरणि में काव्य प्रयुक्त पदों के अर्थ विभावादि हैं तथा इन विभावादि से संसृष्ट स्थायीभाव काव्य का वाक्यार्थ है। इस प्रकार वह काव्यवाक्य ही है, जिसके विभाव पदार्थ हैं और स्थायीभाव वाक्यार्थ।[७६] इस प्रकार धनिक के अनुसार स्थायीभाव तथा रस की प्रतीति व्यङ्ग्य न होकर काव्य का वाक्यार्थ है तथा उसकी प्रतीति व्यञ्जना नामक कल्पित शक्ति का विषय न होकर तात्पर्य शक्ति का क्षेत्र है।

उपर्युक्त विवेचन के द्वारा धनिक ने दशरूपक के अवलोक नामक वृत्ति में काव्यार्थ रूप वाक्यार्थ/तात्पर्यार्थ के प्रतिपादन में तात्पर्यवृत्ति की महती भूमिका का उल्लेख कर तात्पर्यार्थ एवं तात्पर्यवृत्ति के ध्वनिवादियों द्वारा स्वीकृत संकुचित क्षेत्र को अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र प्रदान कर इसे असीमित सिद्ध किया है। अपने काव्यनिर्णय नामक ग्रन्थ में धनिक ने ध्वनिवादियों की व्यञ्जनावृत्ति का खण्डन कर तात्पर्यवृत्ति को स्थापित किया है। इस ग्रन्थ की कुछ कारिकाओं को धनिक ने दशरूपक की अपनी वृत्ति में उद्धृत किया है जिसके माध्यम से तात्पर्यवृत्ति के व्यापक क्षेत्र का पता चलता है। धनिक द्वारा उद्धृत सात कारिकाओं में से प्रारम्भ की कारिकाओं के माध्यम से पूर्वपक्ष को तथा उत्तरवर्ती कारिकाओं के द्वारा सिद्धान्त मत को प्रतिष्ठापित किया गया है।

धनिक की प्रथम कारिका के अनुसार तात्पर्यवादियों द्वारा यह कहा जाता है कि व्यङ्ग्य का तात्पर्य में समावेश होने से ध्वनि नाम की कोई वस्तु नहीं है। इस पर व्यञ्जनावादी उनसे प्रश्न करते हैं कि अन्योक्ति आदि में अश्रूयमाण पदार्थों में तात्पर्य कैसे माना जाएगा; क्योंकि अन्योक्ति में जिस अर्थ की प्रतीति होती है, वह उपात्त शब्द का अर्थ नहीं होता।[७७]

दूसरी कारिका में ध्वनिवादी कहते हैं कि जो अश्रूयमाण पदादि में तात्पर्यवादी लोग तात्पर्य मानते हैं वही भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'विषं भक्षय' इस वाक्य से प्रतीत अर्थ जिसका प्रयोग पुत्रादि के लिए किया गया है, वहाँ भी 'जहर खा लेने से भी बुरा शत्रु भोजन है' यह प्रतीयमान अर्थ तात्पर्यशक्ति के द्वारा प्रतीत नहीं हो पाता, अतः यहाँ ध्वनि ही है तथा इसकी प्रतीति व्यञ्जना व्यापार से ही होती है। इस अर्थ में ध्वनि का वारण किस प्रकार या कौन कर सकता है, इसलिए व्यञ्जना और ध्वनि माननी ही पड़ेगी।[७८]

तृतीय कारिका का पूर्वार्द्ध ध्वनिवादियों का तथा उत्तरार्द्ध धनिक द्वारा उनके उत्तर के रूप में है। तदनुसार ध्वनिवादी कहते हैं कि वाक्य के स्वार्थ के विश्रान्त होने पर, जब वाक्य अर्थान्तर की प्रतीति कराता है, तब ध्वनि होती है। तात्पर्यवृत्ति का प्रसार तो वाक्यार्थ की अविश्रान्ति तक ही है। तात्पर्यार्थ द्वितीय कक्षा का विषय है; जब तक वाक्यार्थ की विश्रान्ति नहीं होती, तभी तक तात्पर्य का प्रसार है, वाक्यार्थ की अविश्रान्ति तक ही तात्पर्य का परत्त्व है और निष्ठा है। इसका उत्तर तात्पर्यवादी देते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि तात्पर्य का निर्धारण कठिन है। तात्पर्यवादियों के अनुसार वस्तुतः तात्पर्य का प्रसार वक्ता की इच्छा पूर्ण होने तक होता है; केवल वाक्यार्थ प्रतीति में तात्पर्य की विश्राान्ति नहीं होती।[७९]

चतुर्थ कारिका में धनिक तात्पर्य की सीमा को बतलाते हुए कहते हैं कि किसी भी वाक्य में तात्पर्य यही तक है, उसके आगे नहीं, उसकी यहाँ विश्रान्ति हो जाती है, इस बात का निर्धारण किसने कर दिया? वस्तुतः

किसी भी वाक्य के वाक्यार्थ या तात्पर्यार्थ की कोई निश्चित सीमा निबद्ध नहीं की जा सकती। तात्पर्य तो जहाँ तक वक्ता का प्रयोजन होता है, वहाँ तक फैला रहता है। इसलिए वह इतना ही है, इससे अधिक नहीं, इस प्रकार का तात्पर्यमापक कोई यन्त्र नहीं है, जिससे तात्पर्य को मापा या तौला जा सके। तात्पर्य को किसी तराजू पर रखकर नहीं कहा जा सकता कि इतना तात्पर्य है, शेष अन्य वस्तु। इसलिए तात्पर्य में ही ध्वनिवादियों का व्यङ्ग्य भी अन्तर्निविष्ट हो जाता है।[८०]

पाँचवी कारिका में ध्वनिवादी कहते हैं कि 'भ्रम धार्मिक......' आदि गाथा में 'भ्रमण करो' इस प्रकार के वाच्यार्थ से ही वाक्यार्थ की विश्रान्ति हो जाती है, परन्तु यहाँ 'भ्रमण न करो' यह प्रतीयमानार्थ भी तो प्रतीत होता है। इस निषेध अर्थ की प्रतीति तो अन्य शक्ति से ही माननी पड़ेगी। अतः उक्त गाथा का निषेधपरक अर्थ व्यङ्ग्यार्थ ही माना जायेगा जिसके लिए व्यञ्जना वृत्ति माननी चाहिए।[८१]

पाँचवी कारिका में ध्वनिवादियों द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रश्नों का उत्तर देते हुए छठी कारिका में धनिक कहते हैं कि वाक्यार्थ की अपेक्षा पूर्ण हो गयी, इसलिए तात्पर्य की विश्रान्ति यदि मानी जाय तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि वक्ता की विवक्षा तक तात्पर्य की अविश्रान्ति ही क्यों न रहेगी?[८२] यहाँ धनिक का अभिप्राय यह है कि "भ्रम धार्मिक......" आदि गाथा में वाक्यार्थ भले ही विधिपरक अर्थ में विश्रान्त हो गया हो, लेकिन वक्ता (पुंश्चली नायिका) की विवक्षा तो पूर्ण नहीं हुई है, वह तो भ्रमण निषेध ही चाहती है। अतः जब तक वक्ता का इच्छित अर्थ प्रतीत न हो जाय तब तक तात्पर्य की अविश्रान्ति की क्यों न मानी जाय। इसलिए उक्त गाथा में प्रतीत होने वाला निषेधार्थक अर्थ भी तात्पर्यार्थ ही है।

सातवीं कारिका द्वारा स्वमत का उपसंहार करते हुए धनिक कहते हैं कि कोई भी लौकिक या अपौरुषेय वाक्य किसी न किसी विवक्षा पर आश्रित रहता है। जब कोई वक्ता किसी भी वाक्य का प्रयोग करता है, तो

वह किसी बात को कहना चाहता है। लौकिक वाक्य में तात्पर्यार्थ उसी वस्तु में होगा, जो वक्ता का अभिप्राय है। ठीक यही बात काव्य में भी घटित होती है। काव्य में रसादि अर्थ काव्य के या कवि के अभिप्रेत होते हैं, अतः वे तात्पर्य ही हैं न कि व्यङ्ग्य।'[३]

इस प्रकार धनिक ने उपर्युक्त कारिकाओं द्वारा तात्पर्यवृत्ति के व्यापक आयाम को उद्घाटित किया है। जहाँ ध्वनिवादी तात्पर्यवृत्ति के क्षेत्र को सीमित करने हेतु अनेक तर्क उपस्थित करते हैं, वही धनिक ने उन सभी तर्कों का खण्डन करते हुए तात्पर्यवृत्ति की व्यापकता को सिद्ध किया है। तात्पर्यवृत्ति के स्वरूप को बतलाकर धनिक ने काव्यार्थबोध में भी इस वृत्ति की महती भूमिका की ओर सङ्केत किया है। काव्य का प्रयोजन रस की प्रतीति कराना है, वही काव्यार्थ कहलाता है। चूँकि धनिक काव्यार्थ को तात्पर्यार्थ ही सिद्ध करते हैं और उस तात्पर्यार्थ का बोध तात्पर्यवृत्ति द्वारा ही सम्भव है अतः काव्यार्थरूप तात्पर्यार्थ के बोध में तात्पर्यवृत्ति महती भूमिका का निर्वाह करती है।

धनिक के तात्पर्यवृत्तिविषयक विवेचन पर विचार करने से एक बात तो स्पष्ट है कि धनिक की तात्पर्यवृत्ति वही नहीं है, जिसको अभिहितान्वयवादी मीमांसक वाक्यार्थबोध के रूप में प्रयुक्त करते हैं। धनिक ने मीमांसा अभिमत तात्पर्यवृत्ति एवं उससे बोधित तात्पर्यार्थ दोनों के क्षेत्र में असीमित विस्तार प्रदान करते हुए ध्वनिवादियों द्वारा स्वीकृत व्यङ्ग्यार्थ को तात्पर्यार्थ में तथा व्यञ्जनावृत्ति को तात्पर्यवृत्ति में समाहित कर तात्पर्यवृत्ति एवं तात्पर्यार्थ को व्यापक धरातल प्रदान किया। यह तात्पर्यवादियों का दुर्भाग्य है कि उनका यह सिद्धान्त काव्यशास्त्र में अपेक्षित विस्तार को प्राप्त नहीं कर सका। इसका कारण यह भी है कि जिस प्रकार आनन्दवर्द्धन को अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ जैसे सुयोग्य उत्तराधिकारी मिले, जिन्होंने ध्वनि सिद्धान्त को अपेक्षित विस्तार प्रदान किया, उस प्रकार के धनिक के उत्तराधिकारियों का अभाव रहा, फलतः आज काव्यशास्त्र में जो वर्चस्व ध्वनिवादी आचार्य स्थापित किये हुए हैं, उनकी तुलना में तात्पर्यवादियों का सिद्धान्त नगण्य ही माना जाएगा। न तो उस समय धनञ्जय-धनिक के

अलावा किसी अन्य काव्यशास्त्री ने तात्पर्यवाद को आगे बढ़ाने का कार्य किया, न ही आज इस पर विशेष कार्य हो रहा है। अतः निश्चय ही काव्यशास्त्र के क्षेत्र में तात्पर्यवाद एक ऐसा क्षेत्र है, जिस पर और अधिक विचार-विमर्श की आवश्यकता है।

तात्पर्य विषयक उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि काव्यशास्त्रीय आचार्यों में तात्पर्यवृत्ति को लेकर मतैक्य नहीं है। जहाँ तक काव्यशास्त्र में इसकी स्वीकृति की बात है तो केवल धनञ्जय-धनिक ही इसे पूर्ण रूप से स्वीकार कर काव्यार्थ बोध में सक्षम बतलाते हुए अपेक्षित विस्तार प्रदान करते प्रतीत होते हैं। जबकि ध्वनिवादी आचार्य इसे स्वीकार तो करते हैं लेकिन इसके क्षेत्र को सीमित भी कर देते हैं। ध्वनिवादियों के मध्य इसकी स्वीकृति उस रूप में नहीं है जैसा कि तात्पर्यवादी धनिक इसे मानते हैं। ध्वनिवादी आचार्य इस वृत्ति को वाक्यार्थबोध तक सीमित कर व्यङ्ग्यार्थ के लिए व्यञ्जना नामक एक अन्य वृत्ति की कल्पना करते हैं। ध्वनिवादियों में भी जहाँ भोज तात्पर्य एवं ध्वनि मे समन्वय स्थापित करने का प्रयास करते हैं, वही विद्याधर एवं विद्यानाथ इसे पूर्ण रूप से अस्वीकार कर व्यञ्जना मे ही अन्तर्भावित करते हैं। ध्वनि विरोधियों में भी धनञ्जय धनिक के अलावा महिमभट्ट ही ऐसे काव्यशास्त्री हैं जिन्होंने तात्पर्य वृत्ति का उल्लेख अवश्य किया है परन्तु उन्होंने उसका अन्तर्भाव अनुमान में कर लिया है। ध्वनिवादी आचार्य जब व्यञ्जना के स्थापना के प्रसङ्ग में तात्पर्यवृत्ति का खण्डन करते हैं, उनका विरोध करने वाले मात्र धनञ्जय-धनिक ही दिखलाई पड़ते हैं। चूँकि तात्पर्यवादियों की मान्यता का सबसे प्रबल विरोधी ध्वनिवादी रहे हैं और ध्वनि-सम्प्रदाय में अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ जैसे उद्भट विद्वानों की एक लम्बी कतार है जिनके तात्पर्य विरोधी तर्कों के समाने धनिक द्वारा तात्पर्य-वृत्ति के पक्ष में उपस्थित किये गये तर्क पर्याप्त नहीं हो पाये, अतः तात्पर्यवादियों का सिद्धान्त काव्यशास्त्र में अपेक्षित विस्तार को प्राप्त नहीं कर सका।

सन्दर्भ

१. "तदेवं व्यञ्जकमुखेन ध्वनिप्रकारेषु निरूपितेषु कश्चिद् ब्रूयात् - किमिदं व्यञ्जकत्वं नाम व्यङ्ग्यार्थप्रकाशनम्।" –ध्व०लो०, ३/३३, वृत्ति, पृ० ४५४

२. "साधारणोक्त्या भाट्टं प्राभाकरं वैयाकरणं च पूर्वपक्षं सूचयति (ध्वनिकार:)।" –वही, लोचनटीका, पृ० ४५४

३. "न हि व्यञ्जकत्वं व्यङ्ग्यत्वं चार्थस्य व्यञ्जकसिद्ध्यधीनं व्यङ्ग्यत्वम्, व्यङ्ग्यापेक्षया च व्यञ्जकत्वसिद्धिरित्यन्योन्यसंश्रयादव्यवस्थानम्।", वही, लोचनटीका, पृ० ४५५

४. "ननु वाच्यातिरिक्तस्य व्यङ्ग्यस्य सिद्धि: प्रागेव प्रतिपादिता तत्सिद्ध्यधीना च व्यञ्जकसिद्धिरिति क: पर्यनुयोगावसर:।" –वही, पृ० ४५५

५. "सत्यमेवैतत्; प्रागुक्तयुक्तिभिर्वाच्यव्यतिरिक्तस्य वस्तुन: सिद्धि: कृता, स त्वर्थो व्यङ्ग्यतयैव कस्माद्व्यपदिश्यते यत्र च प्राधान्येनावस्थानं तत्र वाच्यतयैवासौ उपदेष्टुं युक्त:, तत्परत्वाद्वाक्यस्य। अतश्च तत्प्रकाशिनो वाक्यस्य वाचकत्वमेव व्यापार:। किं तस्य व्यापारान्तरकल्पनया? तस्मात्तात्पर्यविषयो योऽर्थ: स तावन्मुख्यतया वाच्य:।" –वही, पृ० ४५६

६. "या त्वन्तरा तथाविधे विषये वाच्यान्तरप्रतीति: सा तत्प्रतीतेरुपायमात्रं पदार्थप्रतीतिरिव वाक्यार्थप्रतीते:।"–वही

७. "उपायमात्रमित्यनेन साधारणोक्त्या भाट्टं प्राभाकरं वैयाकरणं च पूर्वपक्षं सूचयति। भाट्टमते हि 'वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम्। पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम्।।' इति शब्दावगतै: पदार्थैस्तात्पर्येण योऽर्थ उत्थाप्यते स एव वाक्यार्थ:, स एव च वाच्य इति। प्राभाकरदर्शनेऽपि दीर्घदीर्घो व्यापारो निमित्तानि वाक्यार्थे......." –वही, लोचनटीका, पृ० ४५६

८. "भ्रम धार्मिक विस्रब्ध: स शूनकोऽद्य मारितस्तेन। गोदावरीनदीकूललतागहनवासिना दृप्तसिंहेन।।" –ध्व०लो०लो० १/४/, पृ० ५२

९. "ननु तात्पर्यशक्तिरपर्यवसिता विवक्षया दृप्तधार्मिकतदादिपदार्थानन्वयरूपमुख्यार्थबाधबलेन विरोधनिमित्तया विपरीतलक्षणया च वाक्यार्थीभूत निषेधप्रतीतिमभिहितान्वयदृशा करोतीति शब्दशक्तिमूल एवं सोऽर्थ:। एवमनेनोक्तमिति हि व्यवहार:, तत्र वाच्चातिरिक्तोऽन्योऽर्थ इति।" –वही, पृ० ५४

१०. "त्रयो ह्यत्र व्यापारा: संवेद्यन्ते-पदार्थेषु सामान्यात्मस्वभिधाव्यापार:, समयापेक्षयार्थावगमनशक्तिर्ह्यभिधा। समयश्च तावत्येव, न विशेषांशे, आनन्त्याद्व्यभिचाराच्चैकस्य। ततो विशेषरूपे वाक्यार्थे तात्पर्यशक्ति:, परस्परान्विते,

'सामान्यान्यन्यथासिद्धेर्विशेषं गमयन्ति हि' इति न्यायात्।''–वही।

११. ''तत्र च द्वितीयकक्ष्यायां 'भ्रमे'ति विध्यतिरिक्तं न किञ्चित्प्रतीयते, अन्वयमात्रस्यैव प्रतिपन्नत्वात्। न हि 'गङ्गायां घोषः,' 'सिंहो वटुः' इत्यत्र यथान्वय एव बुभूषन् प्रतिहन्यते, योग्यताविरहात्, तथा तव भ्रमणनिषेद्धा स श्वा सिंहेन हतः, तदिदानीं भ्रमणनिषेधकारणवैकल्याद् भ्रमणं तवोचितमित्यन्वयस्य काचित्क्षतिः। अत एव मुख्यार्थबाधा नात्र शङ्क्येति न विपरीतक्षणाया अवसरः।'' –वही, पृ० ५५

१२. ''भवतु वाऽसौ। तथापि द्वितीयस्थानसंक्रान्ता तावदसौ न भवतु। तथा हि मुख्यार्थबाधायां लक्षणायाः प्रक्लृप्तिः। बाधा च विरोधप्रतीतिरेव। न चात्र पदार्थानां स्वात्मनिविरोधः। परस्परं विरोध इति चेत् — सोऽयं तर्ह्यन्वय विरोधः प्रत्येयः। न चाप्रतिपन्नेऽन्वये विरोधप्रतीतिः, प्रतिपत्तिश्चान्वयस्य नाभिधाशक्त्या, तस्याः पदार्थप्रतिपत्यूपक्षीणाया विरम्याव्यापारात् इति तात्पर्यशक्त्यैवान्वयप्रतिपत्तिः।'' –वही, पृ० ५५

१३. ''नन्वेवं अङ्गुल्यग्रे करिवरशतम् इत्यत्राप्यन्वयप्रतीतिः स्यात्। किं न भवत्यन्वयप्रतीतिः दशदाडिमादिवाक्यवत्, किन्तु प्रमाणान्तरेण सोऽन्वयः प्रत्यक्षादिना बाधितः प्रतिपन्नोऽपि शुक्तिकायां रजतमिवेति तदवगमकारिणो वाक्यस्याप्रामाण्यम्। सिंहो माणवकः' इत्यत्र द्वितीयकक्ष्यानिविष्टतात्पर्यशक्तिसमर्पितान्वयबाधकोल्लासानन्तरमभिधातात्पर्यशक्तिद्वयव्यतिरिक्ता तावत् तृतीयैव शक्तिस्तद्बाधकविधुरीकरणनिपुणा लक्षणाभिधाना समुल्लसति।'' –वही, पृ० ५६

१४. ''समयापेक्षा वाच्यावगमनशक्तिरभिधाशक्तिः।'' –वही, पृ० ६०

१५. ''तदन्यथानुपपत्तिसहायार्थावबोधनशक्तिस्तात्पर्यशक्तिः।'' –वही

१६. ''मुख्यार्थबाधादिसहकार्यपेक्षार्थप्रतिभासनशक्तिर्लक्षणा शक्तिः।'' –वही, पृ० ६०

१७. ''तच्छक्तित्रयोपजनितार्थावगममूलजाततत्प्रतिभासपवित्रितप्रतिपत्तृप्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिर्ध्वननव्यापारः।'' – वही, पृ० ६१

१८. ''प्रकृतिप्रत्ययौ त्रेधा त्रिधोपस्कारभक्तयः। त्रिधैवोपपदप्रातिपदिकानां विभक्तयः। त्रिधोपसर्जनं त्रेधा समास इति कीर्तितः। प्रातिपदिकशब्दोऽयमथान्वाख्येय उच्यते।। पदमिह त्रिविधं प्रतिपाद्यते त्रिविधमेव हि वाक्यमथ त्रिधा। व्यवहृतिः खलु शब्दनिबन्धना यदनयोरुभयोः प्रतितिष्ठति।।'' –शृं० प्र० २/५८/६०

१९. ''तत्र प्रकृत्यादिशब्दप्रत्याय्याः क्रियाकालकारकपुरुषोपाधिप्रधानोपस्कारार्थप्रातिपदिकार्थवृत्त्यर्थपदार्थवाक्यार्थरूपा द्वादश भेदाः।'' –शृं० प्र०, पृ० ११५

२०. ''तत्राभिधाविवक्षातात्पर्यप्रविभागव्यपेक्षासामर्थ्यान्वयैकार्थीभावदोषाहानगुणोपादानालंकारयोगरसाभियोगाख्या शब्दार्थयोर्द्वादशसम्बन्धाः साहित्यं इत्युच्यते।'' –शृं० प्र०, सप्तम प्रकाश, पृ० २१६

२१. "अभिधा च विवक्षा च तात्पर्यं च विभागवत। चतस्त्रः केवला ह्येता: शब्दसम्बन्धशक्तय:।
व्यपेक्षा यत्र सामर्थ्यमन्वयो यश्च तैर्विध:। ऐकार्थ्यं यच्च तास्तस्य स सहायस्य शक्तय:।।" –वही, ७/१९४-१९५

२२. "यत्पर: शब्द: स शब्दार्थ: इति तात्पर्यम्। तच्च वाक्य एवोपपद्यते। पदमात्रेण अभिप्रायस्य प्रकाशयितुमशक्यत्वात्। तच्च वाक्यप्रतिपाद्यं वस्तु त्रिरूपं भवति- अभिधीयमानं, प्रतीयमानं, ध्वनिरूपं च।" –वही, सप्तम प्रकाश, पृ० २४१

२३. "यत्र यदुपात्तशब्देषु मुख्यागौणीलक्षणाभि: शब्दशक्तिभि: स्वमर्थमभिधाय उपरतव्यापारेषु आकाङ्क्षासन्निधियोग्यतादिभि: वाक्यार्थमात्रमभिधीयते तद् अभिधीयमानं, यथा गौर्गच्छति।" –वही

२४. "वाक्यार्थावगतेरुत्तरकालं वाक्यार्थ: उपपद्यमान: अनुपपद्यमानो अर्थप्रकरणौचित्यादिसहकृतौ(त:) यत् प्रत्यायति तत् प्रतीयमानम्। यथा 'विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्ष्व' इत्युक्ते वरं विषं भक्षितं, न पुनरस्य गृहे भुक्तम्' इति प्रतीयते।" –वही, सप्तम प्रकाश, पृ० २४१

२५. "कस्स ण वा होइ रोसो दट्ठूण पिआए सव्वणं अहरं। सभमरकमलुग्धायिणि वारिअवामे सहसु एहिं।।' वही, ७/१७०

२६. तात्पर्यमेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये सौभाग्यमेव गुणसम्पदि वल्लभस्य।
लावण्यमेव वपुषि स्वदतेऽङ्गनाया: शृङ्गार एव हृदि मानवतो जनस्य।।"
–वही, ६/९८

२७. "यदवक्रं वच: शास्त्रे लोके च वच एव तत्। वक्रं यदर्थवादादौ तस्य काव्यमिति स्मृति:।
यदिभिप्रायसर्वस्वं वक्तुर्वाक्यात् प्रतीयते। तात्पर्यमर्थधर्मस्तत् शब्दधर्म: पुनर्ध्वनि।।
सौभाग्यमिव तात्पर्यमान्तरो गुण इष्यते। वाग्देवताया लावण्यमिव बाह्यस्तयोर्ध्वनि:।।
अदूरविप्रकर्षात्तु द्वयेन द्वयमुच्यते। यथा सुरभिवैशाखो मधुमाधवसंज्ञया।।" – वही, ६/९९-१०१

२८. अद्धृत, डॉ० वी० राघवन्, भोजकृत शृङ्गारप्रकाश का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ० १८२

२९. "स्याद्वाचको लाक्षणिक: शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा।" –का० प्र० २/६

३०. "वाच्यादयस्तदर्था: स्यु:।" –वही

३१. "तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्।" –वही

३२. आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधिवशाद् वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो

विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीति अभिहितान्वयवादिनां मतम्। वाच्य एव वाक्यार्थ इति अन्विताभिधानवादिनाः। –वही (स्वोपज्ञवृत्ति)

३३. "अभिहितान्वयवादिनामिति-अभिहितानां स्वस्ववृत्त्या पदैरुपस्थितानामर्थानामन्वयः इति वादिनां भाट्टमीमांसकानां इत्यर्थः।" –वही, बा० बो० टी०, पृ० २६

३४. "पदानि अन्वितानि भूत्वा पश्चाद्विशिष्टमर्थं कथ्यन्तीति यो वदति सोऽन्विताभिधानवादी।" –वही, पृ० २७

३५. "अर्थशक्तिमूलेऽपि विशेषे सङ्केतः कर्तुं न ह्युज्यत इति सामान्यरूपाणां पदार्थानामाकाङ्क्षासन्निधियोग्यतावशात् परस्परसंसर्गो यत्रापदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे का वार्ता व्यङ्ग्यस्याभिधेयताम्।" –का० प्र० ५/४७ (स्वोपज्ञवृत्ति)

३६. "शब्द वृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्रपश्यति। श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया। अन्यथाऽनुपपत्या तु बोधेच्छक्तिं द्वयात्मिकां। अर्थापत्याऽवबोधेत सम्बन्धस्त्रिप्रमाणकम्।।" –वही, स्वोपज्ञवृत्ति

३७. "......अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्ति-निवृत्तिकारि वाक्यमेव प्रयोगयोग्यमिति वाक्यस्थितानामेव पदानामन्वितैः पदार्थैरन्वितानामेव संकेतो गृह्यते इति विशिष्टा एव पदार्था वाक्यार्थो न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्।" – वही

३८. "यद्यपि वाक्यान्तरप्रयुज्यमानान्यपि प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययेन तान्येवैतानि पदानि निश्चीयन्ते इति पदार्थान्तरमात्रेणान्वितः संकेतगोचरः तथापि सामान्यावच्छादितो विशेषरूप एवासौ प्रतिपद्यते व्यतिषत्तानां पदार्थानां तथा भूतत्वादित्यन्विताभिधानवादिनः।" –वही

३९. "तेषामपि मते सामान्यविशेषरूपः पदार्थः संकेतविषय इत्यतिविशेषभूतो वाक्यार्थान्तरगतोऽसंकेतितत्वादवाच्य एव यत्र पदार्थः प्रतिपद्यते तत्र दूरेऽर्थान्तर्भूतस्य निःशेषच्युत्येत्यादौ विध्यादेश्चर्चा।"–वही

४०. "सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः।" –का० प्र० ५/४७ (स्वोपज्ञवृत्ति)

४१. "ये त्वभिदधतु 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोव्यापारः' इति 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति विधिरेवात्र वाच्य इति, तेऽप्यतात्पर्यज्ञास्तात्पर्यवाचोयुक्तेर्देवानांप्रियाः।।" –वही

४२. "यत्परः शब्द...... इति नियमस्येत्थमर्थो मीमांसकैर्निरणायिवाक्यान्तरवर्ति-पदार्थेषूपस्थितेषु सिद्धरूपाणां प्राप्ततया विधानमनर्थकमिति साध्यरूपस्यैव विधेयत्वं, यस्य च विधेयत्वं तत्रैव तद्वाक्यस्य तात्पर्यं, यस्मिंश्च तात्पर्यं, स एव वाक्यार्थः; तदर्थ बोधनायैव तद्वाक्यं प्रयुक्तं।" –वही, बा०बो०टी, पृ० २२६

४३. "तथाहि–भूतभव्यमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते इति कारकपदार्थाः क्रियापदार्थेनान्वीयमानाः प्रधानक्रियानिर्वर्तकस्वक्रियाभिसम्बन्धात् साध्यमानतां प्राप्नुवन्ति। ततश्च अदग्धदहनन्यायेन यावदप्राप्तं तावद्विधीयते।"— का० प्र०, ५/४७ (स्वोपज्ञवृत्ति)

४४. "यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः।" –अ०सं०, पृ० ८८

४५. "प्रकृतिवत् विकृति कर्तव्याः।" –वही, पृ० ९४

४६. "यथा ऋत्विक् प्रचरणे प्रमाणान्तरात् सिद्धे लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति इत्यत्र लोहितोष्णीषत्व मात्रं विधेयम्।" –का०प्र० ५/४७ (स्वोपज्ञवृत्ति)

४७. "ततश्च यदेव विधेयं तत्रैव तात्पर्यमित्युपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यं न तु प्रतीतमात्रे। एवं हि 'पूर्वो धावति इत्यादावपराद्यर्थेऽपि क्वचित्तात्पर्यं स्यात्।" – वही

४८. "यत्तु विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः इत्यत्र एतद्गृहे न भोक्तव्यं इत्यत्र तात्पर्यमिति स एव वाक्यार्थ इत्युच्यते तत्र चकार एकवाक्यतासूचनार्थः।" – वही

४९. "न चाख्यातवाक्ययोर्द्वयोरङ्गाङ्गिभाव इति।" –वही

५०. "विषभक्षण वाक्यस्य सुहृद्वाक्यत्वेनाङ्गता कल्पनीयेति विषभक्षणादपि दुष्टमेतद्गृहे भोजनमिति सर्वथा माऽस्य गृहे भुङ्थाः इत्युपात्तशब्दार्थे एव तात्पर्यम्।" –वही

५१. "यदि च शब्दश्रुतेरनन्तरं यावानार्थो लभ्यते तावति शब्दस्याभिधैव व्यापारः, ततः कथं 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः', 'ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी' इत्यादौ हर्षशोकादिनामपि न वाच्यत्वम्। कस्माच्च लक्षणा लक्षणीयेप्यर्थे दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणैव प्रतीतिसिद्धेः।" –वही

५२. किमिति न श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वं? –वही

५३. श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदोर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्। मी०सू० ३/३/१४

५४. "वाचकलक्षकव्यञ्जकत्वेन त्रिविधं शब्दजातम्। वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यत्वेनार्थ जातमपि त्रिविधम्।" –प्र०रु० काव्य-प्रकरण, वृत्ति भाग

५५. तात्पर्यार्थोऽपि व्यङ्ग्यार्थ एव, न पुनः पृथग्भूतः। अभिधालक्षणाव्यञ्जनाख्यास्तिस्रः। शब्दवृत्तयः।। वही

५६. "ननु चतुर्थे तात्पर्यार्थे जाग्रति कथमत्रत्रैविध्योक्तिरित्याशङ्क्य तस्य तृतीयेन्तर्भाव इत्याह तात्पर्यार्थ इति। अत्र वक्तृबुद्धिसन्निधापितोवाक्यावगम्यो वाक्यार्थो

रसादिरूपस्तच्छब्देनोच्यते। तस्मिन् परास्तत्परास्तदासक्तास्तद्विषया इत्यर्थः। तेषां भावस्तात्पर्यम्।'' –वही, रत्नापण टीका, पृ० ५४

५७. ''नन्वभिहितानां पदार्थानामर्थाभिधायिनां वा पदानां विशिष्टार्थप्रत्यायनशक्तिस्तात्पर्यमिति मतभेदेन मीमांसका वर्णयन्ति। अतस्तन्मते देवदत्त! दण्डेन गामानयेत्यादौ देवदत्तकर्तृकदण्डकरणकगोकर्मकानयनरूपो विशिष्टार्थेव व्यङ्ग्यत्वविधुरस्तात्पर्यादवगतत्वात् तात्पर्यार्थ इत्युच्यते। कथमस्य व्यङ्ग्येऽन्तर्भाव इति।'' –वही, पृ० ५५

५८. ''इति चेत् सत्यं। न हि तावन्मात्रे कविसंरम्भविश्रान्तिः। काव्यशब्दानामन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयभूतश्च प्रधानस्य प्रयोजनान्तरस्यासम्भवात्। किं तु तदर्थन्यक्कारेण प्रतीयमाने सामाजिकानन्दास्वादफले रसादावर्थान्तरे। अतः स एव तात्पर्यार्थः। तत्प्रत्यायकपदार्थशक्तिरेव तात्पर्यं कविसमये, तच्च नाभिधा, स्वार्थे संकेताभावात्। नापि लक्षणा, मुख्यार्थबाधाद्यभावात्। अतो वक्ष्यमाण लक्षणस्य व्यञ्जनस्यैवेदं नामान्तरकरणमिति तदर्थस्य व्यङ्ग्यार्थत्वमेवेति भावः।'' –वही

५९. ''तस्माद्व्यञ्जनापरपर्यायमेव तात्पर्यं कविभिरङ्गीकृतं नान्यदिति सिद्धम्।'' –वही

६०. ''विद्याधरेणाप्युक्तं- तात्पर्यं नाम व्यापारान्तरं परैरभ्युपगतं इति।'' –वही

६१. ''अभिधादित्रयोपाधिवैशिष्ट्यात्रिविधो मतः। शब्दोऽपि वाचकस्तद्वल्लक्षको व्यञ्जकस्तथा।'' –सा०द० २/१९

६२. ''अभिधोपाधिकः वाचकः। लक्षणोपाधिको लक्षकः। व्यञ्जनोपाधिको व्यञ्जकः।'' –वही, वृत्ति

६३. ''तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने। तात्पर्यार्थं तदर्थञ्च वाक्यं तद्बोधकं परे।'' –वही, २/२०

६४. ''अभिधया एकैकपदार्थबोधनविरामाद्वाक्यार्थरूपस्य पदार्थान्वयस्य बोधिका तात्पर्यं नाम वृत्तिः। तदर्थश्च तात्पर्यार्थः। तद्बोधकञ्च वाक्यमित्यभिहितान्वयवादिनां मतम्।'' –वही, वृत्ति

६५. ''वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।'' –वही, १/३

६६. 'वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधातात्पर्यलक्षणाख्यानां। अङ्गीकार्या तुर्या वृत्तिर्बोधे रसादिनाम्।' –वही, ५/१

६७. ''अभिहितान्वयवादिभिरङ्गीकृता तात्पर्याख्यावृत्तिरपि संसर्गमात्रे परिक्षीणा न व्यङ्ग्बोधिनी।''–वही, वृत्ति

६८. ''यत्र केचिदाहुः— सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः इति। यच्च धनिकेनोक्तं-

'तात्पर्यव्यतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनिः, यावत्कार्यप्रसारित्त्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम्।''–वही

६९. ''यत्पुनरुक्तं पोरुषेयमपौरुषेयं च वाक्यं सर्वमेव कार्यपरम्। अतत्परत्वेऽनुपादेयत्वादुन्मत्तवाक्यवत्। ततश्च काव्यशब्दानां निरतिशयसुखास्वादव्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रवृत्त्यौपयिकप्रयोजनानुपलब्धेर्निरतिशयसुखास्वाद एव कार्यत्वेनावधार्यते। 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति न्यायात् इति।'' – वही, वृत्ति

७०. ''किमिदं तत्परत्वं नाम तदर्थत्वं वा, तात्पर्यवृत्त्या तत्बोधकत्वं वा? आद्ये न विवादः व्यङ्ग्यत्वेऽपि तदर्थतानपायात्। द्वितीये तु केयं तात्पर्याख्यावृत्तिः, अभिहितान्वयवादिभिरङ्गीकृता, तदन्या वा? आद्ये दत्तमेवोत्तरम्। द्वितीये तु नाममात्रे विवादः, तन्मतेऽपि तुरीयवृत्तिसिद्धेः।'' वही

७१. ''नन्वस्तु युगपदेव तात्पर्यशक्त्या विभावादिसंसर्गस्य रसादेश्च प्रकाशनं-इति चेत्; न तयोर्हेतुफलभावाङ्गिकारात्। यदाह मुनिः विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः इति।'' –वही

७२. विषभक्षणादपि परामेतद्गृहभोजनस्य दारुणताम्। वाच्यादतोऽनुमिमते प्रकरणवक्तृ-स्वरूपज्ञाः।। विषभक्षणमनुमनुते न हि कश्चिदकाण्ड एव सुहृदि सुधीः। तेनात्रान्तरगतिरार्थी तात्पर्यशक्तिजा न पुनः।'' –व्य० वि०, प्रथम विमर्श, पृ० १३३

७३. ''वाच्याप्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया। वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायिभावस्तथेतरः।'' –द०रू०, ४/३७

७४. ''यथा लौकिकवाक्येषु श्रूयमाणाक्रियासु 'गामभ्याज' इत्यादिषु अश्रूयमाणक्रियासु च, 'द्वारं-द्वारम्' इत्यादिषु स्वशब्दोपादानात प्रकरणादिवशात् बुद्धिसन्निवेशिनी क्रियैव कारकोपचिता काव्येष्वपि क्वचिद् स्वशब्दोपादानात् 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया' इत्येवमादौ क्वचिच्च प्रकरणादिवशान्नियताभिहितविभावाद्यविनाभावाद्वा साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानो रत्यादिः स्थायी स्वस्वविभावानुभावव्य-भिचारिभिस्तत्तच्छब्दोपनीतैः संस्कारपरम्परायां परं प्रौढिमानीयमानो रत्यादि वाक्यार्थः।'' –वही, ४/३७, वृत्ति।

७५. ''न चाऽपदार्थस्य वाक्यार्थत्वं नास्तीति वाच्यम्- कार्यपर्यवसायित्वात्तात्पर्यशक्तेः। तथा हि पौरुषेयमपौरुषेयं वाक्यं सर्वं कार्यपरं अतत्परत्वेऽनुपादेयत्वा-दुन्मत्तादिवाक्यवत्।'' –वही, ४/३७, वृत्ति।

७६. ''काव्यशब्दानां चान्वयव्यतिरेकाभ्यां निरतिशयसुखास्वादव्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रवृत्तिविषययोः प्रयोजनान्तरानुपलब्धे स्वानन्दोद्भूतिरेव

कार्यत्वेनावधार्यते, तदुद्भूतिनिमितत्त्वं च विभावादि संसृष्टस्य स्थायिन एवावगम्यते, अतो वाक्यस्याभिधानशक्तिस्तेन तेन रसेनाकृष्यमाणा तत्तत्स्वार्थापेक्षितावान्तर-विभावादिप्रतिपादनद्वारा स्वपर्यवसायितामानीयते, तत्र विभावादयः पदार्थस्थानीया-स्तत्संसृष्टो रत्यादिर्वाक्यार्थः तदेतत्काव्यवाक्यं यदीयं ताविमौ पदार्थवाक्यार्थौ।''
–वही, ४/३७, वृत्ति

७७. ''तात्पर्यानातिरेकाच्च व्यञ्जनीयस्य न ध्वनिः। किमुक्तं स्यादश्रुतार्थ-तात्पर्येऽन्योक्तिरूपिणी॥१॥'', वही

७८. विषं भक्षय पुरो यश्चैव परसुतादिषु। प्रसज्यते प्रधानत्वाद ध्वनित्वं केन वार्यते॥२॥ वही

७९. ध्वनिश्चेत्स्वार्थविश्रान्तं वाक्यमर्थान्तराश्रयम्। तत्परत्वं त्वविश्रान्तौ, तन्नविश्रान्त्यसम्भवात्॥३॥– वही

८०. ''एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किं कृतम्। यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम् ॥४॥'' – वही

८१. '''भ्रमधार्मिक विश्रब्धमिति भ्रमिकृतास्पदम्। निर्व्यावृत्ति कथं वाक्यं निषेधमुपसर्पति॥५॥' –वही

८२. ''प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तिरपेक्षापूरणाद्यदि। वक्तुर्विवक्षितप्राप्तेरविश्रान्तिर्न वा कथम्॥१६॥''–वही

८३. ''पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षापरतन्त्रता। वक्त्रभिप्रेततात्पर्यमतः काव्यस्य युज्यते॥''
–वही

उपसंहार

भारतीय वाङ्मय में भाषा को साध्य एवं साधन दोनों ही रूपों में उपस्थित किया गया है। भारतीय मनीषियों ने भाषा को परमतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठापित कर जहाँ उसे साध्य माना है वही भाषारूपी साध्य तक पहुँचने के लिए भाषा को ही साधन बनाया है। भाषा की एक अद्भुत विशेषता यह है कि भाषिक चिन्तन भाषा में ही सम्भव है। यही कारण है कि भाषारूपी परम तत्त्व के गूढतत्त्वों को जानने के लिए भाषाविदों ने भाषा को ही माध्यम बनाया है। लौकिक और पारमार्थिक दोनों ही स्तरों पर भाषा की उपादेयता स्वतः सिद्ध हैं। जहाँ पारमार्थिक रूप में भाषा परम तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित है वही सम्पूर्ण लौकिक क्रियाकलाप भाषा के ही अधीन है। यही कारण है कि भारतीय चिन्तकों ने भाषा को केन्द्रबिन्दु बनाकर उसपर पर पर्याप्त चिन्तन-मनन किया है। आज भी भाषा के विविध आयामों को समझने के लिए भाषाविदों द्वारा भाषाविषयक चिन्तन-मनन जारी है।

लोकव्यवहार में भाषा की उपयोगिता अर्थज्ञान कराने में है, क्योंकि जबतक वक्ता द्वारा उच्चरित भाषाविषयक अर्थज्ञान श्रोता को न हो जाय तबतक श्रोता को वक्ता के अभिप्राय अथवा तात्पर्य को समझना मुश्किल है। अर्थज्ञान की प्रक्रिया में शाब्दिकों द्वारा शब्दों में एक अन्तर्निहित शक्ति की कल्पना की गयी है, जिसे शक्ति, वृत्ति, व्यापार आदि नामों से अभिहित किया गया है। इस वृत्ति या शक्ति के चार रूप भारतीय वाङ्मय मे दृष्टिगत होते हैं, जिन्हें अभिधा, लक्षणा, तात्पर्य एवं व्यञ्जना के नाम से जाना जाता है। इन चारों वृत्तियों में से अभिधावृत्ति को तो सभी ने मान्यता दी है, किन्तु अन्य तीन को लेकर वैचारिक मतभेद

दृष्टिगत होते हैं। अभिधादि चारों वृत्तियों में अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना शब्द की वृत्तियाँ मानी गयी हैं जबकि तात्पर्य वाक्य की वृत्ति है। जिस प्रकार अभिधावृत्ति वाचक शब्द से वाच्यार्थ का, लक्षणावृत्ति लक्षक शब्द से लक्ष्यार्थ का तथा व्यञ्जनावृत्ति व्यञ्जक शब्द से व्यङ्ग्यार्थ का बोध कराती है, उसी प्रकार तात्पर्यवृत्ति भी तात्पर्यार्थ का बोध कराती है, लेकिन यह तात्पर्यरूप अर्थ किसी शब्द का नहीं बल्कि पूरे वाक्य का होता है, इसलिए इसे वाक्य की वृत्ति माना गया है।

इस शोधग्रन्थ में उपनिबद्ध तात्पर्यविषयक विचार-विमर्श के मन्थन से हमारे समक्ष तात्पर्यविषयक दो पक्ष दृष्टिगत होते हैं। एक पक्ष में जहाँ इसे एक वृत्ति के रूप में मान्यता प्रदान कर इस तात्पर्यवृत्ति से तात्पर्यार्थ बोध को स्वीकार किया गया है, वही दूसरा पक्ष इसे वक्ता के अभिप्राय के रूप में इसकी स्वीकृति प्रदान करता है। जो लोग इसे वक्ता का अभिप्राय के रूप में स्वीकार करते हैं, उनके अनुसार जिस प्रकार वाक्यार्थबोध में आकाङ्क्षा, योग्यता एवं सन्निधि का ज्ञान सहकारी कारण के रूप में आवश्यक माना गया है, उसी प्रकार तात्पर्यज्ञान भी वाक्यार्थबोध में आवश्यक होता है। तात्पर्य को एक वृत्ति के रूप में मान्यता प्रदान करने वालों में मीमांसक, प्राचीन नैयायिक एवं काव्यशास्त्री आते हैं। यद्यपि इनलोगों में तात्पर्यवृत्ति के फलक एवं तात्पर्यार्थ के क्षेत्र को लेकर मतैक्य नहीं है। तथापि कतिपय मतभेदों के बावजूद ये इसे एक वृत्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। तात्पर्य को एक वृत्ति के रूप में स्वीकार न कर इसे वाक्यार्थबोध में सहकारी कारण के रूप में स्वीकृति प्रदान करने वालों में कतिपय नव्यवैयाकरण, नव्यनैयायिक एवं वेदान्तियों का नाम लिया जा सकता है। नागेश भट्ट ने 'परमलघुमञ्जूषा' में, उदयनाचार्य ने 'न्यायकुसुमाञ्जलि' में, विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य ने 'कारिकावली' एवं 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' में तथा धर्मराजाध्वरीन्द्र ने 'वेदान्त परिभाषा' में तात्पर्यज्ञान को वाक्यार्थबोध में सहकारी कारण के रूप में आवश्यक माना है।

जिस प्रकार काव्यशास्त्रियों की सबसे महत्त्वपूर्ण वृत्ति व्यञ्जना का

उत्स व्याकरण में पाया जाता है उसी प्रकार उनके द्वारा उल्लिखित तात्पर्यवृत्ति का उद्भव भी मीमांसादर्शन में हुआ है। मीमांसकों में वाक्यार्थ विवेचन के प्रसङ्ग में दो सिद्धान्त अत्यन्त प्रचलित हैं, जिन्हें अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद के नाम से जाना जाता है। अभिहितान्वयवाद भाट्ट मीमांसकों का तथा अन्विताभिधानवाद प्राभाकर मीमांसकों का सिद्धान्त माना जाता है। वस्तुतः तात्पर्यवृत्ति मुख्यरूप से भाट्ट मीमांसकों द्वारा स्वीकृत है, जिनके अनुसार वाक्यार्थबोध की प्रक्रिया में अभिधावृत्ति द्वारा वाक्यगत अनन्वित पदों के अर्थबोध कराकर विरत हो जाने पर तात्पर्यवृत्ति उन पृथक्-पृथक् पदार्थों को अन्वित कर वाक्यार्थबोध को गम्य बनाती है। इस प्रकार भंट्ट मीमांसकों ने इसे वाक्यगत पदार्थों में अन्वय करने वाली वृत्ति के रूप में स्वीकार किया है।

ध्यातव्य है कि तात्पर्यवृत्ति की उद्भावना सर्वप्रथम अभिहितान्वयवादी मीमांसकों द्वारा की गयी, ऐसी मान्यता काव्यशास्त्रियों में पायी जाती है, लेकिन किस अभिहितान्वयवादी मीमांसक द्वारा इस वृत्ति की उद्भावना सर्वप्रथम की गयी एवं किस ग्रन्थ में तात्पर्यविषयक उनके विचार संगृहीत है, साथ ही कितने अभिहितान्वयवादी मीमांसकों ने इस वृत्ति को स्वीकार कर इसके स्वरूप, कार्यक्षेत्र आदि पर चर्चा की है, इत्यादि के विषय में कोई स्पष्ट जानकारी प्राप्त नहीं होती। लेकिन काव्यशास्त्रियों में जिन लोगों ने भी तात्पर्यवृत्ति पर विचार-विमर्श किया है, उससे अप्रत्यक्ष रूप से यही जानकारी मिलती है कि तात्पर्यवृत्ति की उद्भावना सर्वप्रथम अभिहितान्वयवादी मीमांसकों ने ही की है। जहाँ तक भाट्ट मीमांसकों के उपलब्ध ग्रन्थों से पता चलता है कि स्वयं कुमारिल भट्ट ने वाक्यार्थ को लक्षणा से उपपन्न माना है। अभिहितान्वयवादी पार्थ सारथि मिश्र ने भी न्यायरत्नमाला में अन्विताभिधानवादियों के मत का खण्डन करते हुए इसी मत की प्रतिष्ठापना की है कि न तो वाक्य न ही केवल वाक्यगत पद साक्षात् सम्बन्ध के द्वारा वाक्यार्थबुद्धि उत्पन्न करते हैं। वाक्यार्थ बोध में सबसे पहले पदों के स्वरूप द्वारा पदार्थ अभिहित होते हैं तब वे पदार्थ वाक्यार्थ को लक्षित करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि कुमारिल आदि अभिहितान्वयवादियों ने वाक्यार्थ बोध के

लिए तात्पर्यवृत्ति को नहीं अपितु लक्षणावृत्ति को स्वीकार किया है। वाचस्पति मिश्र ने भी बतलाया है कि पदार्थों को अन्वित करने वाली शक्ति अभिधादि से भिन्न है। हम उसे लक्षणा ही कहते हैं, किन्तु वह शुद्ध लक्षणा से भिन्न है। यदि इसे अलग से शक्ति मानी जाय तो चार शक्तियाँ माननी पड़ेगी- अभिधा, लक्षणा, गौणी एवं पदार्थान्वयशक्ति। इस गौरव से बचने के लिए ही इसे लक्षणा माना गया है। यहाँ पर ऐसा माना जा सकता है कि मीमांसकों की इस दलील से ही कुछ मीमांसकों को इस पदार्थान्वयशक्ति को एक नया नाम देने की कल्पना मिली हो तथा लक्षणा से इसे भिन्न सिद्ध करने के लिए भाट्ट मीमांसकों के ही एक दल ने इसे तात्पर्यवृत्ति का नाम दे दिया हो। कश्मीर के मीमांसकों की यही धारणा रही होगी तथा अभिनवगुप्त आदि ध्वनिवादियों को मीमांसकों की यही तात्पर्यवृत्ति वाली परम्परा मिली होगी। लेकिन जबतक अभिहितान्वयवादी किसी मीमांसक के ग्रन्थ की प्राप्ति न हो जाय जो ध्वनिसम्प्रदाय से पुराना होते हुए तात्पर्यविषयक जानकारी देता हो, स्पष्ट रूप से इस वृत्ति के उद्भवकर्त्ता मीमांसकों के बारे में केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है।

सम्प्रति उपलब्ध ग्रन्थों में जयन्त भट्ट कृत न्यायमञ्जरी ही ऐसा ग्रन्थ है जिसमें सर्वप्रथम तात्पर्य को एक वृत्ति के रूप में प्रतिष्ठापित कर उस पर विचार-विमर्श किया गया है। जयन्त भट्ट के अनुसार मुख्यार्थ बोध के अनन्तर अभिधा-व्यापार विरत हो जाता है किन्तु पद अभी भी वाक्य के अन्तिम तात्पर्य के विषय में सक्रिय रहते हैं। इस अभिधातिरिक्त कार्य का सम्पादन करने वाली शक्ति तात्पर्यशक्ति कही जाती है, जिससे वाक्य का तात्पर्यार्थ आता है। यद्यपि जयन्त भट्ट के पूर्ववती प्राभाकर मीमांसक शालिकनाथ मिश्र ने प्रकरणपञ्चिका में अभिहितान्वयवाद के खण्डन के प्रसंग में अभिहितान्वयवादियों द्वारा तात्पर्यवृत्ति को स्वीकार करने का सङ्केत अवश्य किया है लेकिन उससे तात्पर्य विषयक कोई स्पष्ट जानकारी प्राप्त नहीं होती। अतः उपलब्ध ग्रन्थों में तात्पर्यवृत्ति विषयक प्रथम विवेचन का श्रेय तो जयन्तभट्ट कृत न्यायमञ्जरी को ही है।

काव्यशास्त्रियों ने जो तात्पर्य विषयक विचार-विमर्श किया है उसके

आधार पर उन्हे मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है-ध्वनिवादी आचार्य एवं ध्वनि विरोधी आचार्य। ध्वनिवादी आचार्यों में तात्पर्यवृत्ति को लेकर मत वैभिन्न्य दृष्टिगत होता है। जहाँ आनन्दवर्द्धन, अभिवगुप्त, मम्मट एंव विश्वनाथ तात्पर्यवृत्ति को स्वीकार तो करते हैं लेकिन उनके क्षेत्र को सीमित रखते हैं। उनके अनसुार तात्पर्य वृत्ति से वाक्यार्थ बोध के पश्चात् जिस अन्य प्रतीयमानार्थ की प्रतीति होती है उसका बोध तात्पर्यवृत्ति से नही हो सकता। बल्कि उसके लिए वे व्यञ्जना नामक वृत्ति की कल्पना करते हैं। वही भोजराज तात्पर्य एवं ध्वनि को एक ही बतलाकर उन दोनों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास करते प्रतीत होते हैं। इस सम्बन्ध में विद्याधर एवं विद्यानाथ का मत बिल्कुल अलग है। वे तात्पर्यवृत्ति को अलग वृत्ति मानने का विरोध करते हैं। वे तात्पर्य को अलग वृत्ति न मानकर तात्पर्यार्थ को व्यङ्ग्यार्थ ही बतालाकर तात्पर्य वृत्ति का अन्तभार्व व्यञ्जना में कर लेते है। इस प्रकार ध्वनिवादी आचार्यों की तात्पर्यवृत्ति विषयक तीन कोटियाँ प्राप्त होती हैं-प्रथम कोटि में वे आचार्य आते हैं जो तात्पर्यवृत्ति को एक सीमित अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। इस कोटि के आचार्यों में आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट एंव विश्वनाथ का नाम उल्लेखनीय है। द्वितीय कोटि में भोज आते हैं जो तात्पर्य एंव व्यञ्जना में समन्वय स्थापित करते हैं। तृतीय कोटि में विद्याधर एंव विद्यानाथ को रखा जा सकता है जो तात्पर्यवृत्ति को अलग से स्वीकार न करके उसे व्यञ्जना में ही अन्तर्भावित मानते है।

ध्वनि विरोधी आचार्यों में धनञ्जय-धनिक तात्पर्यवृत्ति को स्वीकार कर ध्वनिवादियों द्वारा स्वीकृत व्यञ्जना वृत्ति का खण्डन करते हैं। वस्तुतः यही काव्यशास्त्र में तात्पर्यवादी भी कहे जाते हैं। इन्होंने मीमांसा अभिमत तात्पर्यवृत्ति को स्वीकार कर काव्यशास्त्र में उसे प्रतिष्ठित करने का यथा सम्भव प्रयास किया है। ध्यातव्य है कि धनिक अभिमत तात्पर्यवृत्ति का क्षेत्र मीमांसा अभिमत तात्पर्यवृत्ति से विस्तृत है। जहाँ मीमांसकों के अनुसार तात्पर्यवृत्ति का क्षेत्र वाक्यार्थ बोध में पदार्थों का बोध कराने तक है, वहीं धनिक इसके क्षेत्र को यावत्कार्यप्रसारि अर्थात् वक्ता के अभीष्ट अर्थ के प्रसार तक माना है। ध्वनिवादी आचार्यों से भी धनिक का मतभेद इसी बात

को लेकर है कि जहाँ ध्वनिवादी तात्पर्यार्थ के अविश्रान्ति तक तो तार्त्यवृत्ति का क्षेत्र स्वीकार करते हैं, लेकिन जैसे ही तात्पर्यार्थ की विश्रान्ति होती है, तात्पर्यवृत्ति का कार्य भी समाप्त हो जाता है। तात्पर्यार्थ के पश्चात् जिस अर्थ की प्रतीति होती है, वह अर्थ व्यञ्जनावृत्ति के माध्यम से प्राप्त होता है। धनिक ध्वनिवादियों की इस मान्यता का खण्डन करते हुए कहते हैं कि जब तक वक्ता का अभीष्ट अर्थ प्रस्फुटित न हो जाये, तब तक हम तात्पर्यार्थ को विश्रान्त ही क्यों मानें? क्यों न वक्ता के चरम अर्थ तक तात्पर्यार्थ की अविश्रान्ि त ही मानकर उसके अन्तिम अभीष्ट अर्थ के ज्ञान होने के पाश्चात् ही तात्पर्यार्थ की विश्रान्ति मानी जाय? धनिक ध्वनिवादियों से प्रश्न करते हैं कि आप यह कैसे निर्धारित कर सकते हैं कि वक्ता का तात्पर्य यहीं तक है? तात्पर्य को मापने के लिए कोई तात्पर्यमापक यन्त्र नहीं है जिससे कि यह ज्ञात हो कि यहाँ तक तो तात्पर्य है तत्पश्चात् अन्य वस्तु। तात्पर्यार्थ कोई तराजू पर तौलकर मापी गयी वस्तु थोड़े ही है? इसलिए वक्ता के द्वारा उच्चरित वाक्य के अर्थ को जब तक श्रोता समझ न ले, वहाँ तक वक्ता का तात्पर्य होता है और उसकी प्रतीति तात्पर्यवृत्ति से ही होती है। इस प्रकार काव्यशास्त्र में धनिक की तात्पर्यवृत्ति विषयक अवधारणा अत्यन्त व्यापक है। ध्वनि विरोधी आचार्यों में धनञ्जय एवं धनिक के अलावा जिन लोगों ने शब्दवृत्ति विषयक विचार-विमर्श किया है उनमें महिमभट्ट ही ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने तात्पर्यवृत्ति का नामोल्लेख किया है। चूँकि महिमभट्ट अनुमानवादी माने जाते हैं तथा उन्होंने अभिधा के अतिरिक्त अन्य सभी वृत्तियों का खण्डन किया है इसलिए वे तात्पर्यवृत्ति को अलग से मानने वाले मत का खण्डन कर तात्पर्यार्थ को अनुमान से गृहीत मानते हैं।

इस प्रकार यदि काव्यशास्त्रियों के तार्त्यवृत्ति विषयक मतों पर सूक्ष्म विचार किया जाय तो काव्यार्थ की प्रतीति में तात्पर्यवृत्ति की उपयुक्तता की सिद्धि मात्र धनिक द्वारा ही की गयी है। अन्य सभी काव्यशास्त्री इसे काव्यार्थ बोध में असमर्थ बतलाकर इसे अस्वीकृत ही करते प्रतीत होते हैं। ध्वनिवादियों द्वारा इसके विरोध में जो तर्क प्रस्तुत किये गये हैं, उनके प्रत्युत्तर मे दिये गये धनिक के तर्क निश्चय ही उतने प्रबल एवं अकाट्य नहीं है, जितने कि

प्रतिपक्षियों के हैं। यद्यपि यह माना जा सकता है कि धनिक ने काव्यनिर्णय में ध्वनिवादियों द्वारा प्रस्तुत किये गये तात्पर्यवृत्ति के विरोधी तर्कों का माकूल जवाब दे दिया हो लेकिन जब तक उस ग्रन्थ की उपलब्धता न हो जाय, ऐसा अनुमान ही किया जा सकता है। इस प्रकार हम देखते है कि धनञ्जय-धनिक ने जिस तात्पर्यवाद को काव्यशास्त्र में स्थापित करने का प्रयत्न किया, उसे अपेक्षित विस्तार न मिल सका। इसका कारण यह भी है कि जहाँ ध्वनिवादियों में अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ जैसे विद्वानों की एक सुदीर्घ परम्परा पायी जाती है, जिन्होंने आनन्दवर्द्धन द्वारा प्रतिष्ठापित ध्वनि सिद्धांत को काव्यशास्त्र में और अधिक संवर्द्धित एवं परिवर्द्धित कर उसे अपेक्षित विस्तार प्रदान किया, वैसे ही धनिक के बाद के आचार्यों ने उनके सिद्धांत में कोई रुचि नहीं ली। फलतः यह तात्पर्यवाद काव्यशास्त्र में व्यापक रूप से स्वीकृति को प्राप्त न कर सका। इस प्रकार इस क्षेत्र में कार्य करने की अपार सम्भावनाएँ विद्यमान है। शोधार्थी द्वारा इस विषय पर शोध विषयक कार्य करने का उद्देश्य भी यही था कि प्रारम्भ से ही उपेक्षित इस तात्पर्यवृत्ति के विषय में अधिक से अधिक जानकारी प्रस्तुत किया जाये, जिससे अन्य शोधार्थियों को इस विषय पर और अधिक विचार-विमर्श करने की प्रेरणा मिल सके। यदि शोधार्थी इस उद्देश्य में थोड़ा भी सफल हो पाया तो इस शोधग्रन्थ की पूर्ण सार्थकता मानी जाएगी।

सन्दर्भ-सूची

प्राथमिक स्रोत

- *अथर्ववेदसंहिता*, (सं०) पं० श्रीपाद दामोदरसातवलेकर, स्वाध्याय-मण्डल पारडी, गुजरात, १९८३.
- *अर्थसङ्ग्रह, लौगाक्षिभास्कर* (पट्टाभिराम शास्त्रिकृत 'अर्थालोक' संस्कृत टीका सहित) (हि० व्या०) वाचस्पति उपाध्याय, चौखम्भा पब्लिशर्स, वाराणसी, २००२.
- *अभिधावृत्तिमात्रिका*, मुकुलभट्ट, हिन्दी भाष्यानुवादकार- रेवा प्रसाद द्विवेदी, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १९९५.
- *ऋग्वेदसंहिता*, (सं०) पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्याय-मण्डल पारडी, गुजरात, १९६७.
- काव्यप्रकाश, मम्मट्ट,
  - (अ) वामनाचार्य झलकीकरविरचित बालबोधिनी टीकासहित, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, पुनर्मुद्रित संस्करण, २००८.
  - (आ) सम्पादक, नरेन्द्र, (व्या०) आचार्य विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी, १९६०.
  - (इ) साहित्य चूडामणि-सुधासागर सहित, (सं०) रेवा प्रासाद द्विवेदी, बी०एच०यू० वाराणसी, १९८१
- *काव्यादर्श*, दण्डी, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, १९६६

- *काव्यालङ्कार, भामह,* (सं० एवं भाष्यकार) देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, द्वितीय संशोधित संस्करण, वि० सं०, २०४२.
- *तत्त्वबिन्दुः,* वाचस्पति मिश्र, (हि० व्या०) व्रजकिशोर त्रिपाठी, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, २००३.
- तर्कसङ्ग्रह, अन्नम्भट्ट,
  - (अ) *स्वोपज्ञव्याख्यातर्कदीपिकासाहितः,* (व्या०) दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पुनर्मुद्रित संस्करण, २००७.
  - (आ) न्यायबोधिनी-पदकृत्य-दीपिका-किरणावली व्याख्योपेतः, व्यास प्रकाशन वाराणसी
- *दशरूपक,* धनञ्जय (धनिक कृत अवलोक टीका सहिता) (हि० व्या०) भोलाशंकर व्यास, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, १९९७.
- ध्वन्यालोक, आनन्दवर्द्धन,
  - (अ) अभिनवगुप्तपादविरचित लोचनटीकासहित, (हि० व्या०) आचार्य जगन्नाथ पाठक, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण-२००६.
  - (आ) लोचन-बालेप्रिया-दिव्याञ्जना सहित, (सं०) पट्टाभिराम शास्त्री, हरिदास संस्कृत सीरीज वाराणसी, १९४०.
- *न्यायकुसुमाञ्जलि,* उदयनाचार्य, हरीदास भट्टाचार्य की संस्कृत टीका एवं आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि कृत कुसुमाञ्जलि परिमल हिन्दी टीका सहित, चौखम्भा संस्कृत विद्याभवन वाराणसी, १९८८.
- *न्यायमञ्जरी, जयन्तभट्ट,* पं आनन्द झा कृत हिन्दीभाषानुवादसहित (द्वितीय भाग) (सं०) किशोरनाथ झा, कामेश्वरसिंह दरभङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा, प्रथम-संस्करण, २००२.
- *न्यायरत्नमाला,* पार्थसारथि मिश्र, श्री रामानुजाचार्यविरचित

नायकत्नव्याख्यायुक्ता, (सं०) के० एस० रामास्वामी शास्त्री शिरोमणि, गायकवाड़ ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, १९३७.

- *न्यायसिद्धान्तमुक्तावली,* (किरणावली समाख्यव्याख्योपेता), विश्वनाथ न्याय पञ्चानन, (व्या०) श्रीकृष्णवल्लभाचार्य, काशी संस्कृत ग्रन्थमाला बनारस, १९७२.
- *न्यायसुधा, भट्ट सोमेश्वर,* (सं०) पंडित मुकुन्द शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस वाराणसी, १९३३.
- *प्रकरणपञ्चिका,* शालिकनाथ मिश्र, (जयपुरि नारायण भट्ट विरचित न्यायसिद्धि टीका सहित), (सं०) श्रीसुब्रह्मण्यशास्त्री, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस, १९६१.
- *प्रतापरुद्रीय,* विद्यानाथ, (श्री कुमारस्वामिसोमपीथिप्रणीत 'रत्नापण' टीकासहित), (हि० व्या०) आचार्य मधुसूदनशास्त्री, चौखम्भा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, २००३.
- *भाट्टचिन्तामणि (तर्कपाद), गागाभट्ट,* (सं०) श्री सूर्यनारायण शुक्ल चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस वाराणसी, १९३२.
- *भाट्टदीपिका, खण्डदेव,* (प्रं० सं०) मण्डन मिश्र, सं० श्रीसंपन्ना-रायणाचार्य, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली, १९९२.
- *भोजराज ग्रन्थमाला,* शृङ्गार प्रकाश (भूमिका एवं मूल), (सं०) रणजीत सिंह सैनी, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, २००१
- *मीमांसादर्शन* (तर्कपाद), जैमिनि,
    - (अ) *शाबरभाष्यसहित,* आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, आनन्दाश्रम प्रेस, १९५३
    - (आ) *हिन्दीव्याख्यासहित,* व्याख्याकार उमाशङ्कर शर्मा 'ऋषि' चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, २००८
- *मीमांसा श्लोकवार्तिक,* कुमारिल भट्ट, (हि० व्या०) दुर्गाधर झा शर्मा, कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा, १९७९.

- *मीमांसा शाबरभाष्य*, शबरस्वामी, (सं० एवं अनु०) युधिष्ठिर मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़ (सोनीपत-हरियाणा); १९८७.
- *व्यक्तिविवेक*, महिमभट्ट, (हि० व्या०) पं० रेवा प्रसाद द्विवेदी, चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण, वि० सं० २०६१.
- *वाक्यपदीयम्, भर्तृहरि*, (वृषभदेव विरचित पद्धति व्याख्या सहित), (सं०) के० ए० एस० सुब्रह्मण्य, पूना, १९६६.
- *वाक्यपदीय* (ब्रह्मकाण्ड), भर्तृहरि, (सं०) शिवशङ्कर अवस्थी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, २००६.
- *वाक्यवृत्ति*, मेरुशास्त्री, (सं०) सत्कारी शर्मा, चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी, १९७६.
- *वृत्तिवार्तिकम्*, अप्पयदीक्षित, (सं०) शशिकान्त द्विवेदी, (व्या०) चन्द्रमौलि द्विवेदी, समज्ञा प्रकाशन, वाराणसी, २००२.
- *वेदान्तपरिभाषा*, धर्मराजाध्वरीन्द्र, (व्या०) गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर, (सं०) श्री रामशास्त्री मुसलगाँवकर, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी-पुनर्मुद्रित संस्करण, २००६.
- *वैयाकरणसिद्धान्त परमलघुमञ्जूषा*, नागेश भट्ट, किरणावलि संस्कृतव्याख्योपेतहिन्द्यनुवादसहिता, (व्या०) आचार्य लोकमणि दाहाल, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी, २००६.
- *वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा*, नागेश भट्ट, (सं०) कालिका प्रसाद मिश्र, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, १९७७.
- *वैयाकरणभूषणसार*, कौण्डभट्ट, (सं०) कृष्णनन्दन झा एवं शशिनाथ झा, मिथिला इंस्टीट्यूट, दरभंगा, २००२.
- *शब्दशक्तिप्रकाशिका*, जगदीश तर्कालङ्कार, चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी, तृतीय संस्करण, वि० सं०, २०५९.
- *शक्तिवाद*, गदाधर भट्टाचार्य, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, १९२९.
- *शब्दव्यापारविचार*, मम्मट, (हि० भा०) रेवा प्रासाद द्विवेदी, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, प्रथम संस्करण, वि० सं०, २०३०.

- *शास्त्रदीपिका*, पार्थसारथि मिश्र, (सं० एवं अनु०) किशोरदास स्वामी, रामतीर्थ मिशन, देहारादून, १९९६.
- *शुक्लयजुर्वेदसंहिता* (उव्वट विरचित मन्त्र एवं महीधर कृत वेददीप भाष्य सहित), तत्त्वबोधिनी हिन्दी व्याख्या, (व्या०) रामकृष्ण शास्त्री, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, २००५.
- *शृङ्गारप्रकाश*, भोजराज, (सं०) वी राघवन, श्रीकृष्णपुरम मद्रास, १९६३.
- *साहित्यदर्पण*, विश्वनाथ,
  - (अ) हिन्दी व्याख्याकार-शालिग्राम शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, पुनर्मुद्रित-संस्करण-२००४.
  - (आ) *सविमर्श-'शशिकला'* - हिन्दी व्याख्या, (व्या०) सत्यव्रत सिंह, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण, २००५.

द्वितीयक स्रोत

- अभिधावृत्तिमातृका एवं शब्दव्यापारविचार (तुलनात्मक अध्ययन), निरुपमा त्रिपाठी, ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली, २००७.
- अभिधाविमर्शः, योगेश्वरदत्त शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, १९८०.
- अर्थविज्ञान (संस्कृत व्याकरण एवं काव्यशास्त्र का योगदान), कमलाकान्त मिश्र, नाग प्रकाशक, जवाहर नगर दिल्ली, १९८८.
- अलङ्कारशास्त्र की परम्परा, राजवंश सहाय 'हीरा', चौखम्भा संस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी, १९७०.
- आनन्दवर्द्धन : आचार्य आनन्दवर्द्धन के काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तक्रमः पुनर्निर्धारणः चिन्तन, रेवा प्रसाद द्विवेदी, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल, १९७२.
- काव्यप्रकाश का दार्शनिक धरातल, बालकृष्ण शर्मा, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली १९९७.

- दार्शनिक विवेचनाएँ, हरिमोहन झा, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, १९३७.
- ध्वनि-सिद्धान्त, राममूर्ति शर्मा, अजन्ता पब्लिकेशन्स, जवाहरनगर दिल्ली, १९८०.
- ध्वनि-सिद्धान्तः विरोधी सम्प्रदाय और उनकी मान्यताएँ, सुरेश चन्द्र पाण्डेय, वसुमति प्रकाशन, इलाहाबाद, १९७२.
- ध्वनिसम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, भोला शंकर व्यास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, वि० सं०, २०५८.
- पदशक्तिः (सं०) उमाकान्त भट्ट, एकेडमी ऑफ संस्कृत रिसर्च सीरिज-२८, मेलकोट, १९९५.
- भाट्टचिन्तामणि के तर्कपाद का अध्ययन, शारदा वर्मा, निर्माण प्रकाशन, दिल्ली, १९९४.
- भारतीय काव्यविमर्श, राममूर्ति त्रिपाठी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, २००९.
- भारतीय काव्यशास्त्र मीमांसा, (सं०) हरिनारायण दीक्षित एवं किरण टंडन, ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली, १९९५.
- भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, जितराम पाठक, अनुपम प्रकाशन, पटना, १९८९.
- भारतीय काव्य सिद्धान्त, (सं०) नगेन्द्र एवं तारकनाथ बाली, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, १९६९.
- भारतीय काव्यशास्त्र का इतिहास, राजवंश सहाय हीरा, चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी, प्रथम संस्करण-२०००.
- भारतीय काव्यशास्त्र की आचार्य परम्परा, राधावल्लभ त्रिपाठी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, २००७.
- भारतीय दर्शन का इतिहास, सुरेन्द्रनाथ दासगुप्ता, (अनु०) कलानाथ

शास्त्री व सुधीर कुमार, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९७८.

- भारतीय दर्शन शास्त्र, धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९५३.
- भारतीय न्यायशास्त्र, चक्रधर विजल्वान, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, द्वितीय संस्करण, १९९८.
- भोजकृत शृङ्गार प्रकाश का समीक्षात्मक अध्ययन, वी० राघवन्, (अनु०) प्रभुदयाल अग्निहोत्री, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल
- मीमांसायां काव्यशास्त्रे च शब्दशक्तिः, विरुपाक्ष वि० जड्डीपाल, अमर ग्रन्थ पब्लिकेशन, दिल्ली, २००२.
- व्यञ्जना: सिद्धि और परम्परा, कृष्णकुमार शर्मा, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, १९७२.
- व्याकरणतन्त्र का काव्यशास्त्र पर प्रभाव, हरिराम मिश्र, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, १९९४.
- वाक्यार्थ-विवेचनम्, धनुर्धर झा, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, २००२.
- वृत्ति-मीमांसा, श्रीकृष्ण शर्मा, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, १९९१.
- वृत्तिसमुच्चयः, (सं०) ब्रह्ममित्र अवस्थी एवं कु० इन्दु अवस्थी, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली, १९७७.
- शब्दविमर्श, शारदा चतुर्वेदी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, २००६.
- शब्दवृत्ति-विमर्श, अविनाश चन्द्र, वाणी विनायक प्रकाशन, इलाहाबाद, २००२.
- शब्द-शक्ति (आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश पर आधारित), पुरुषोत्तम दास अग्रवाल, रोशनलाल जैन एण्ड सन्स, १९७०.

- शब्दार्थमीमांसा, गौरीनाथ शास्त्री, (हि० अनु०) श्री मिथिलेश चतुर्वेदी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, १९९२.
- शब्दार्थ-तत्त्व, शोभाकान्त, मिश्र, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, १९८३.
- शब्दब्रह्ममीमांसा, कामदेव झा, आई० बी० ए० पब्लिकेशन अम्बाला
- शब्दशास्त्रीयवृत्तिविमर्शः, आचार्य श्रीरामप्रसाद त्रिपाठी, सम्पूर्णान्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, वि० सं०, २०५४.
- शब्दशक्ति सम्बन्धी भारतीय और पाश्चात्य अवधारणा तथा हिन्दी काव्यशास्त्र, शैलेन्द्र कुमार शर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दरियागंज, दिल्ली, २००३.
- शब्दशक्ति और ध्वनिसिद्धान्त, सत्यदेव चौधरी, अलंकार प्रकाशन दिल्ली, १९७३.
- शाब्दबोधमीमांसा (वाक्यवाक्यार्थविचारात्मकप्रथमो भागः), एन० एस० रामानुज ताताचार्य, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान नई दिल्ली, २००५.
- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, म०म०पी०वी० काणे, (हि० अनु०) इन्द्रचन्द्र शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पुनर्मुद्रित संस्करण, २०११.
- संस्कृत काव्यशास्त्र में लक्षणा का उद्भव तथा विकास, ठाकुरदत्त जोशी, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, १९८६.
- संस्कृत काव्यशास्त्र पर भारतीय दर्शन का प्रभाव, अमरजीत कौर, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, १९७१.
- संस्कृत काव्यशास्त्र और काव्यपरम्परा, राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रतिभा प्रकाशन दिल्ली, १९८१.
- संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास, सुशील कुमार डे, (अनु०) मायाराम शर्मा, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पटना, २००१.
- संस्कृत का अर्वाचीन समीक्षात्माक काव्यशास्त्र, अभिराज राजेन्द्र मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, २०१०.

- साहित्यविवेक, विश्वनाथ भट्टाचार्य, मनीषा प्रकाशन वाराणसी, १९७५।
- A history of Sanskrit literature : Arthur, A Macdonell, William Heinamana, London, 1917.
- Ancient Indian Literature (volume-2), (Ed.) C.K. Seshadri June Gaur, Sahitya Akedami, 2000.
- History of Sanskrit literature : Classical period (Volume-1), S.N. Dasgupta & S.K. De, University of culcutta, Culcutta, 1947.
- Indian kavya Literature (Volume-5), A.K. Warder, Motilal Banarasidass Delhi, 1988.
- Literary Theory : Indian conceptual Framework, Kapil Kapoor, EWP Pvt, Ltd. New Delhi, 1998.
- Sanskrit criticism, V.K. Chari, Motial Banarasidass Publishers, New Delhi, 1993.
- Some Aspect of literary criticism in Sanskrit, A. Sankaran, Oriental Books Reprint Corporation, New Delhi.

शोध-प्रबन्ध

- आचार्य मम्मट का शब्दशक्ति विवेचन, अहलावत सुमन रानी, दिल्ली विश्वविद्यालय, एम० फिल० लघुशोधप्रबन्ध, १९८९.
- भारतीय काव्यशास्त्र में शब्दशक्तियों का उदय एवं विकास, दूबे सुरेश चन्द्र, जबलपुर, शोधप्रबन्ध
- मम्मट-नागेश भट्टयो: शब्दशक्तिविषयकं विवेचनात्मकमध्ययनम्, झोपरव्य, प्रमोद कुमार, व्याकरण विभाग, श्री लाल बहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली, १९९७.
- मीमांसा दर्शने काव्यशास्त्रे च प्रस्तुतस्य शब्दवृत्तिविमर्शस्य समीक्षणम्, जड्डीपाल, विरुपाक्ष, वि०, साहित्य विभाग, श्री लाल बहादुर-शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली, १९९७.

- शब्दशक्तीनां काव्यशास्त्रीयं समीक्षात्मकमध्ययनम्, मिश्र राजकुमार, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, इलाहाबाद परिसर, १९९२.

शोध-पत्रिकाएँ

- वाक्यवादः (गङ्गानाथ-झा-केन्द्रीय-संस्कृत-विद्यापीठ-शोधपत्रिकायाः परिशिष्टम्), (सं०, अनु०, व्या०) बनमाली विश्वाल, राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थानम्, गङ्गानाथ झा-परिसर, इलाहाबाद, २०१०.
- शोध-प्रभा (शब्दतत्त्वविमर्शः), (प्र० सं०) प्रो० वाचस्पति उपाध्याय, (सं०) रमेश कुमार पाण्डेय, श्री लाल बहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली, जुलाई-दिसम्बर अङ्क, २०००.

कोशग्रन्थ

- अंग्रेजी-हिन्दी शब्दकोश-कामिल बुल्के,. कैथोलिक प्रेस, राँची, १९७२.
- पारिजातकोश, (सं०) पं० ईश्वरचन्द्र, परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली, २००५.
- भारतीय दर्शन बृहत्कोश-बच्चुलाल अवस्थी, शारदा पब्लिशिंग हाऊस; २००४.
- भारतीय दर्शन परिभाषा कोश- दीनानाथ शुक्ल, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, १९९३.
- मीमांसाकोश-केवलानन्द सरस्वती, श्री सतगुरू पब्लिकेशन्स, इण्डियन बुक सेंटर, दिल्ली, १९९२.
- न्यायकोश-भीमाचार्य झलकीकर, भण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना, १९७८.
- वाचस्पत्यम्, (सं०) तारानाथ वाचस्पति, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, पुनमुद्रित संस्करण, २००२.
- शब्दकल्पद्रुमः, राजा राधाकान्त देव, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, पुनमुद्रित संस्करण, २००२.

- संस्कृत वाङ्मय कोश (परिभाषा-खण्ड), (सं०) श्रीधर भास्कर वर्णेकर, भारतीय भाषा परिषद् कलकत्ता, १९३२.
- संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश - वामन शिवराम आप्टे; (सं०) उमा प्रसाद पाण्डेय, कमल प्रकाशन, नई दिल्ली, १९९९.
- English&Sanskerit Dictionary – Williams, Moniar, Munshiram Manoharlal, Delhi, 1976.
- Oxford English-English Hindi Dictionary, (Ed.) Suresh Kumar & Ramanath Sahai, Oxford University Press-2008.

शब्दानुक्रमणिका

अथर्ववेद ४, ५
अर्थतत्त्व/अर्थ १३, १४, १५, १६, १७
अर्थ भेद, १०६
अपोह, २०
असत्याभास, १५
अभिधावृत्तिमात्रिका, ३२
अनुनाद ध्वनि, १०८, १०९
अर्थापत्ति, ११३, ११४
अतिविशेष अर्थ, ११५
अदग्धदहनन्याय, ११७
अनुपात्त शब्द, ११९
अन्वय-व्यतिरेक, १३२
अनुमान, १२९, १३०, १३७
अप्पयदीक्षित, ३०, ३६
अन्वयानुपपत्ति, ३३
अभिधीयमान तात्पर्य, १०७
अन्योन्याश्रय दोष, ९८
अदृष्टकल्पना दोष, ७६
अन्नम्भट्ट, ६४, ६५, ६६
अवलोकवृत्ति, १३०
अभिधा, २७, २८, २९, ३०, ३१, ३५, ३७, ५१, ६०, ८०, ८१, ९४, १००, १०२, १०४, ११०, ११३, ११५, ११६, १२०, १२३, १२५, १२९, १३०, १४६, १४९
अभिहितान्वयवाद/अभिहितान्वयवादी, ४९, ५०, ५६, ५८, ५९, ६०, ७०, ७१, ७५, ७६, ७७, ७८, ७९, ८०, ९३, ९४, ९८, १०१, ११०, १११, ११२, ११३, ११४, ११५, १२०, १२५, १२७, १२८, १३६, १४८
अन्विताभिधानवाद/अन्विताभिधानवादी, ५८, ५९, ७०, ७१, ७२, ७३, ७४, ७५, ७८, ७९, ८०, ९८, १००, १०१, ११०, १११, ११२, ११३, ११४, ११५, १२०, १४८
अभिनवगुप्त, ९५, ९७, ९८, १००, १०१, १०२, १०४, १०५, १२१, १२२, १३६, १३७, १४९, १५०, १५२
आकाङ्क्षा, ५१, ५३, ५४, ६३, ६४,

६५, ६७, ७०, ७९, ८०, ११३, १२१, १४७
आनन्दवर्द्धन, २६, ९५, ९७, ९८, ९९, १००, ११०, १२२, १३६, १५०, १५२
आनन्त्य दोष, १८, १९
इतरेतराश्रय दोष, ७५
उद्योतकर, ९
उपवर्ष, १०
उत्तमवृद्ध, ११३
उपात्त शब्द, ११९
उदयनाचार्य, ५२, ५३, ८१, १४७
उपस्कार भाष्य, २४
ऋक्-संहिता, १, २, ३, ४, १२
ऋत-तत्त्व, ४
ऐतरेय ब्राह्मण, ५
कालिदास, २६
कारिकावली, १७
कात्यायन, १६, ६२
काव्यभाषा, १७
काव्यभाषा, ९४
काव्यनिर्णय, ९६, १३०, १३३
काव्यार्थ, १३६
काव्यप्रकाश, १७, १९, ३०, ३४, ३६, ५८, ७५, १११, ११२
काव्यादर्श, १२
कुन्तक, २६
कुमारिल भट्ट, १३, १७, २४, ५०, ५९, ६६, ७०, ७१, ७५, ७६, ८०, ८२, ९४, ९९
कुमारस्वामी, १२२, १२३, १२४
केवल शक्ति, १०६
कैयट, ७, १६, २२
कैवल्योपनिषद्, ५
कौण्डभट्ट, २९
खण्डदेव, ४९
गागाभट्ट, ४९, ५६, ५७
गोपथ ब्राह्मण, ५
गौतम, २०
चक्रधर विजलवान, ६६
जयन्त भट्ट, ९, २४, ४९, ५०, ५६, ५८, ५९, ६०, ६१, ६७, ६८, ७०, ७१, ७३, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ८०, ८१, ९४, १४९
जगन्नाथ, ३६
जगदीश तर्कालङ्कार, ६३
ज्योतिष्टोम याग, ११९
ठाकुर दत्त जोशी, ३४
तन्त्रवार्तिक, ५०
तत्त्वबिन्दु, ६९, ७४
तर्कदीपिका, ६६
तात्पर्य, ५०, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५, ५६, ७७, ९४, १०२, १०७, १०९, ११०, ११२,

११८, ११९, १२०, १२२, १२३, १२४, १२५, १३०, १३५, १४६, १४७
तात्पर्यवृत्ति, ५०, ५६, ५८, ६०, ६१, ६२, ८०, ८१, ८२, ९४, ९६, ९७, ९८, १००, १०१, १०२, १०३, १२१, १२३, १२४, १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३२, १३३, १३४, १३६, १३७, १४७, १४८, १५०, १५१
तात्पर्यार्थ, २७, २८, ३३, ९४, ९५, ९६, १००, ११०, १११, ११२, ११५, ११८, १२०, १२१, १२२, १२३, १२४, १२९, १३१, १३२, १३३, १३४, १३५, १३६, १४७, १५१
तात्पर्यानुपपत्ति, ३३
तात्पर्यवाचो युक्ति, ११६, ११८
तुलसीदास, २६
तुष्यतुदुर्जनन्याय, १०२, १०३
तैतिरीय ब्राह्मण, ५
दण्डी, १२, २६
दशरूपक, १२६, १२७, १३०, १३३
दृष्टबाध दोष, ७७
धर्मराजाध्वरीन्द्र, ५५, ६४, ६६, १४७
धनञ्जय, ९५, ९६, ९७, ११९, १२६, १२७, १२८, १३०, १३१, १३७, १५०, १५१
धनिक, ९५, ९६, ९७, ११९, १२६, १२७, १२८, १३०, १३१, १३२, १३३, १३४, १३५, १३६, १३७, १५०, १५१, १५२
ध्वनिरूप तात्पर्य, १०७, १०९
ध्वन्यालोकलोचन, १००
ध्वन्यात्मक शब्द, ९
ध्वनि, ७, १०९, ११०, १२४, १३४, १३७
नाट्यशास्त्र, १२
नागेश भट्ट, ६, ७, १६, २९, ४८, ५१, ५२, ६३, ६४, ६५, ६६
न्यायवैशेषिक, ९, १०
न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, १४७
न्यायकुसुमाञ्जलि, ५२, १४७
न्यायरत्नमाला, ५९, ७६, १४८
न्यायरत्नाकरटीका, ४९
न्यायमञ्जरी, ५२, ६०, ६७, ७३, ७७, १४९
परमलघुमञ्जूषा, ५१, ६३
परावाक्, २६
पश्यन्ती, ८
पतञ्जलि, ६, ७, १३, १६, २१, ६२, ६३
पारिजातकोश, ५१

पार्थसारथि मिश्र, ५९, ६३, ७६, ७७, ९४, १४८
प्रवृत्तिनिमित्त, १६, १७, १९
प्रशस्तपाद, ९
प्रतापरुद्रीय, १२२
प्रकरणपञ्चिका, ६०, ७१
प्रतिपादकप्रतिपाद्यभाव, १३२
प्रतीयमानार्थ, १२७, १३०, १३५, १५०
प्रतीयमान तात्पर्य, १०७, १०९
प्रतिशब्द ध्वनि, १०८, १०९
प्रतिभा, ६७, ६८, ६९
प्रभाकर मिश्र, ७१, ७४, ८०
पुण्यराज, १४, ६९
बालबोधिनी, ११२
बृहदारण्यक उपनिषद्, ५
भर्तृहरि, ६, ७, ८, १४, १६, १७, २२, २३, ३६, ६९, १३१
भरत, १२, १२८
भट्ट लोल्लट, ३०, ५८, ११५, ११६, १२०, १२६
भट्टसोमेश्वर, ४९, ५०
भाट्ट चिन्तामणि, ५६, ५७
भामह, १२, २६
भोज, २६, ९६, ९७, १०५, १०७, १०८, १०९, १५०
महाभाष्य, ६९
मध्यमा, ८
मध्यमवृद्ध, ११३
महिमभट्ट, ६३, ९६, ९७, १२९, १३७, १५१
महाभाष्य ६९
मध्यमा, ८
मध्यमवृद्ध, ११३
महिमभट्ट, ६३, ९६, ९७, १२९, १३७, १५१
मम्मट, १८, २६, ३०, ३२, ३४, ३६, ५८, ७५, ९५, ९७, ९८, ११०, १११, ११२, ११३, ११४, ११५, ११६, ११७, ११८, ११९, १२०, १२१, १३६, १३७, १५०
मुकुलभट्ट, ३२
यजुर्वेद, ४
यावत्कार्यप्रसारी, १२६, १५०
योग्यता, ५१, ५३, ५४, ५९, ६३, ६७, ७०, ७९, ८०, ११५, १२१, १४७
वर्णात्मक शब्द, ९
वक्रोक्तिजीवितम्, २६
वाक्यार्थ, ६७, ६९, ७१, ७३, ७४, ७५, ७७, ७८, ७९, ८०, ९३, १११
वाक्य, ६२, ६३, ६४, ६८, ११३, ११४

वाचस्पति मिश्र, ६०, ६९, ७०, ७४, ७९
वाचक, २७, १२२, १२५, १४७
वात्स्यायन, ६३
वाग्भट्ट, २६
वामन, २६
विश्वनाथ, २६, ३०, ३६, ६३, ६४, ६६, ९७, १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३६, १३७, १५०
वाक्/वाक्-तत्त्व, १, २, ३, ४, ५
वाक्यार्थ, ११३, ११५, १२१, १३०, १३१, १३२, १३३, १३५, १५०
वाक्यपदीय, १४
वात्स्यायन, ९
वाचस्पत्यम्, ५१
विश्वनाथ पञ्चानन, ५३, ५४, ५९, ६४, ६५, ६६, १४७
विद्यानाथ, ९५, ९७, १२१, १२२, १२४, १३७, १५०
विद्याधर, २६, ९५, ९७, १२४, १३७, १५०
वी० राघवन्, ११०
वेदान्त परिभाषा, ५४, ५५, ५६, १४७
वैखरी, ८
व्यक्तिविवेक, ९६, १२९
व्यञ्जना, २७, २८, २९, ३५, ३६, ३७, ४८, ५१, ९४, ९७, ९८, ९९, १००, १०१, १०४, ११३, १२३, १२४, १२५, १२७, १२८, १२९, १३३, १३४, १३७, १४६, १४७
व्यञ्जक, २७, १२२, १२५, १४७
व्याडि, २२
व्यभिचारदोष १८, १९
वृत्ति, २७, ४८, १२५
रत्नापण टीका, १२२
रुद्रट, २६
लक्षणा, २७, २८, २९, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ४८, ५१, ७९, ८१, ९४, १०२, १०४, ११०, १२३, १२५, १२९, १३०, १४६, १४९
लक्षक, २७, १२२, १२५, १४७
लौगाक्षि भास्कर, ६३
शतपथ ब्राह्मण, ५
शब्दानुशासन, ६
शब्दार्थ भेद, १०६
शब्द, ५, ७, ८, ९, १०, ११, १७
शब्द भेद, १०७
शबरस्वामी, ५९, ६३, ६९, ७१, ७५, ८१

शालिकनाथ मिश्र, ७१
शाबरभाष्य, ५९, ६३
शब्दकल्पद्रुम, ५१
शलिकनाथ मिश्र, ६०, ७१
शब्दव्यापारविचार, ३२
शाब्दबोध, २०
शृङ्गार प्रकाशन, १०५
शंकर मिश्र, २४
शबर स्वामी, १०, ११, २४, २५, ५९, ६९, ७१, ७५, ७९, ८१
शब्दार्थसम्बन्ध, २१, २२, २३, २४, २५, २६
शाब्दबोध, २०, ५१, ५३, ५४, ५६, ५७
शोभाकान्त मिश्र, १४, ३३
श्लोकवार्तिक, १७, ४९
श्येन याग, ११७
श्वेताश्वतरोपनिषद्, ५
षड्विंश ब्राह्मण ५
सहृदय, १३१, १३३
सन्निधि/आसत्ति, ५१, ५३, ५४, ५९, ६३, ६६, ६७, ७०, ७९, ८०, ११५, १२१, १४७
सङ्केतग्रह, १७, १८, १९, २०, २१, ११३, ११४
संस्कृत वाङ्मय कोश ६१
साहित्य, १०६
सापेक्ष शक्ति, १०६
सामान्यन्वित अर्थ, ११४, ११५
सामयिक शब्द, २४
स्फोट, ७, ८
हरिवृषभ, २२
हरिराम मिश्र, ६९
हेलाराज, ६
हेमचन्द्र, २६

नाम : मणि शंकर द्विवेदी

जन्म : ग्राम+पो०, भरौली, जिला सीव
(बिहार)

माता : श्रीमती चम्पा देवी

पिता : श्री भरत द्विवेदी

शिक्षा : बी० ए० (संस्कृत ऑनर्स) क
संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्याल
वाराणसी, एम० ए० एवं एम
फिल० विशिष्ट संस्कृत अध्य
केन्द्र, जवाहरलाल नेह
विश्वविद्यालय, नई दिल्ली। सम्प्र
जे० एन० यू०, नई दिल्ली
"व्याकरणदर्शन एवं काश्म
शैवदर्शन में वाक्-तत्त्व: ए
तुलनात्मक समीक्षा" विषय पर पी
एच० डी उपाधि हेतु शोधरत।

अध्ययन क्षेत्र : काव्यशास्त्र, व्याकरणशास्त्र ए
काश्मीर शैव दर्शन।

शोधकार्य : सहसम्पादन-"वागुल्लास: प्रथम
भाग:", अनेक राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्री
सङ्गेष्ठियों एवं सम्मेलनों
सहभागिता तथा शोधपत्र वाचन
अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय मूल्याङ्कि
शोध पत्रिकाओं में अनेक शोधप
प्रकाशित।

ISBN 93-80651-88-0
9789380651880

विद्यानिधि प्रकाशन
डी-10/1061 (समीप श्रीमहागौरी मन्दिर)
खजूरी खास, दिल्ली-110094
e-mail : vidyanidhiprakashan@hotmail.com